समरथ

संयुक्तांक : सितंबर–दिसंबर 2008 ◆ नई दिल्ली

नाहि तो जनम नसाई

भारत त्योहारों और पर्वों का देश है। हमारे पर्व और त्योहार अधिकतर मौसमों और उनसे जुड़ी परंपराओं से प्रभावित रहे हैं। इन पर्वों और त्योहारों में हिंदुस्तान का आम इंसान अपने तमाम पूर्वाग्रह छोड़कर उस जनसमुदाय का हिस्सा बन जाता है जिसमें लोग न केवल एक दूसरे से कंधा मिलाकर चलते हैं बल्कि एक दूसरे के लिए जश्न का माहौल भी तैयार करते हैं और खुद भी उस जश्न में डूब जाते हैं। इन पर्वों और त्योहारों में धार्मिकता का भी अंश अवश्य होता है लेकिन इस धार्मिकता में धार्मिक संकीर्णता के लिए कोई जगह नहीं है। दशहरा, दीवाली, ईद, जन्माष्टमी, क्रिसमस, बसंत पंचमी, माघ और कुंभ के मेले जैसे अनगिनत त्योहार हैं जो धार्मिकता के अंश के साथ-साथ अपने दामन में सामुदायिक मेल-जोल, एक-दूसरे से प्रेम की भावना और परस्पर निर्भरता को भी बढ़ावा देते हैं। समरथ का यह अंक जो माघ मेले के समय प्रकाशित हो रहा है, इन्हीं तथ्यों की पुष्टि मात्र है।

इस अंक में हम राही मासूम रज़ा और महाकवि नज़ीर अकबराबादी की कुछ ऐसी कविताएं प्रस्तुत कर रहे हैं जो धार्मिक संकीर्णता की बुनियादें ध्वस्त करते हुए देश की बहुधर्मी परम्पराओं को बड़ी सुंदरता से मजबूत करती हैं। नज़ीर अकबराबादी ने जहां एक तरफ 'हजरत अली का चमत्कार' बयान किया है वहीं 'गुरु नानक की वंदना', 'हरि की तारीफ' और 'महादेव जी का ब्याह' का भी बखान किया। उनकी नजर में चाहे वह हरि हो या अली, महादेव हों या गुरु नानक सारे के सारे वंदनीय हैं और उसमें धार्मिक कट्टरवाद के लिए कोई जगह नहीं है। इसी तरह राही मासूम रज़ा की कविता 'कबिरा खड़ा बजार में' ऐसी धार्मिकता को चुनौती देती है जो केवल मस्जिदों और मंदिरों तक सिमट कर रह जाती है और आम इंसान ऐसी धार्मिकता में पिस जाता है।

प्रस्तुत अंक में इन कविताओं के अतिरिक्त भारत के विभिन्न लोक-कलाओं और हिंदुस्तान की बहुरंगी साझी विरासत से सम्बन्धित कुछ लेख भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

कबिरा खड़ा बजार में

■ डॉ. राही मासूम रज़ा

कबिरा खड़ा बजार में देखे सबको कफ़न की ओट
जीवन की सतरंगी चुनरी मौत की काली गोट

मन्दिर-मस्जिद में आया है भक्ती का तूफ़ान
क़श्क़े हों या तस्बीहें हों दोनों हैं नादान
तार-तार में चली हुई है, किसका है जजमान

ताने-बाने की अनबन में कबिरा है हैरान
राम-रहीम के इस झगड़े में तार-तार है थान

क़ब्र बनाती हैं तकबीरें, संख कहे श्मशान
काशी की ज़िन्दः गलियों में आया है तूफ़ान
राख में और माटी में चली है, हो न कहीं ईमान

कबिरा खड़ा बजार में रोये देख-देख ये बात
मूई माटी कैसे बताये का है उसकी ज़ात

कबिरा भी है लेकिन नटखट सरक गया चुपचाप
तलवारों की आँच जो पायी उड़ गया जैसे भाप
चिता ने कोई लाश न पायी, कफ़न रहा बेनाप

फूलों में सब ढूँढ रहे हैं गया शाह किस ओर
कबिरा खेले आँख मिचौली हिन्दू-मुस्लिम चोर

कहत कबीर सुनो भई साधो दिया जले या तेल
सदियों पहले खेल गया ये मातृभूमि में खेल
आज अगर ये खेल खेलता होती मुझको जेल

कहते कुरैशी[1] ये हिन्दू है, मुस्लिम मौजुमदार[1]
कबिरा की ये मूई माटी सड़ती बीच बजार

1. पाकिस्तान के एक मुस्लिम और हिन्दुस्तान के हिन्दू इतिहासकार के नाम

धार्मिक संकीर्णता के परे

नज़ीर अकबराबादी

हजरत अली का चमत्कार

सुनते हो ए अली के मुहिब्बाने-दोस्तदार[1]
इक मोजज़ा[2] मैं कहता हूँ उस शह का आशकार[3]
है ताज़ा वारदात ये अज़ नक़ले रोज़गार[4]
था कोई शख़्स दौलतो-ओ-हशमत[5] में नामदार
इक रोज़ वो गया था कहीं खेलने शिकार

कविता का एक छोटा अंश

गुरु नानक की वंदना

हैं कहते नानक शाह जिन्हें वो पूरे हैं आगाह[1] गुरु
वो कामिल रहबर[2] जग में हैं यूँ रोशन जैसे माह[3] गुरु
मक़सूद, मुराद, उमीद सभी बर लाते हैं दिलख़ाह[4] गुरु
नित लुत्फ़-ओ-करम से करते हैं हम लोगों का निर्वाह गुरु
इस बख़्शिश के इस अज़्मत[5] के हैं बाबा नानक शाह गुरु
सब सीस नवा अरदास[6] करो और हर दम बोलो बाह गुरु

कविता का एक छोटा अंश

महादेवजी का ब्याह

पहले नाँवँ गनेश का लीजे सीस नवाय
जासे कारज सिद्ध हों; सदा महूरत लाय
बोल बचन अनन्द के पेम[1] पीत और चाह
सुन लो यारो ध्यान धर महादेव का ब्याह
जोगी जंगम से सुना वो भी किया बयान
और कथा में जो सुना उसका भी परमान
सुनने वाले भी रहें हँसी-खुशी दिन-रैन
और पढ़े जो याद कर उनको भी सुख-चैन
और जिसने इस ब्याह की महिमा कही बनाय
उसके भी हर हाल में शिवजी रहें सहाय
खुशी रहे दिन-रात वो कभी न हो दिलगीर
महिमा उसके भी रहे जिनका नाम 'नज़ीर'

कविता का एक छोटा अंश

संदर्भ

हजरत अली का चमत्कार–1. अली के प्रेमी, 2. चमत्कार, 3. उद्‌घाटित प्रकट, 4. सुनी-सुनाई, 5. धन-संपत्ति

गुरु नानक की वंदना–1. ज्ञानी, 2. पूर्ण पथ प्रदर्शक, 3. चाँद, 4. मनचाहा, 5. महानता, 6. वंदना।

महादेवजी का ब्याह–1. प्रेम।

हरि की तारीफ़

मैं क्या-क्या वस्फ़ कहूँ यारो उस शाम बरन औतारी के
स्त्रीकिशन कन्हैया मुरलीधर मनमोहन कुंजबिहारी के
गोपाल मनोहर साँवलिया घनशाम अटल बनवारी के
नन्दलाल दुलारे सुन्दर छवि ब्रजचंद मुकुट झलकारी के
कर धूम लुटइय्या दधिमाखन रंछोर नवल गिरधारी के
बनकुंज फिरैय्या रास रचन सुखदाई कान्हमुरारी के
हर आन दिखाये यप नये हर लीला न्यारी-न्यारी के
पत लाज रखइय्या दुःखभंजन हरभक्ती भक्ते अधारी के
नित हरिभजन हरिभज रे बाबा जो हरि से ध्यान लगाते हैं
जो हरि की आसा रखते हैं हरि उनकी आस बजाते हैं

जो भगती हैं सो उनको तो नित हर का नाँव सहाता है
जिस ज्ञान में हरि से नेह बढ़े वो ज्ञान उन्हें खुश आता है
नित मन में हर-हर भजते हैं हर भजना उनको भाता है
सुख मन में उनके लाता है दुःख उनके जी से जाता है
मन उनका अपने सीने में दिन-रात भजन ठहराता है
हर नाम की सुमरन करते हैं मुख चैन उन्हें दिखलाता ह
जो ध्यान बँधा है चाहत का वो उनका मन बहलाता है
दिल उनका हर-हर कहने से हर आन नया सुख पाता है
हरनाम के जपने से मन को खुश नेह जनत से रखते हैं
नित भक्त जतन में रहते हैं और काम भजन से रखते हैं

जो मन में अपने निश्चय कर हैं द्वारे हर के आन पड़े
हर वक़्त मगन हर आन खुशी कुछ सोच नहीं मन में लाते
हर नाम भजन की परवाह है और काम उसी से हैं रखते
कुछ ध्यान न ईधर-ऊधर का हर आसा पर हैं मन धरते
जिस काम से हरि का ध्यान रहे हैं काम वही हरदम करते
कुछ आन अटक जब पड़ती है मन बीच नहीं चिन्ता करते
नित आस लगाये रहते हैं मन भीतर हर की किरपा से
हर कारज में हर कृपा से वो मन में बात निहारत हैं
मनमोहन अपनी कृपा से नित उनके काज सँवारत हैं

कविता का एक छोटा अंश

मेरा भगवान

■ सहजानंद सरस्वती

कहते हैं कि वह (ईश्वर) सब काम पलक मारते कर देता है और जिस बात को नहीं चाहता उसे कदापित नहीं होने देता। लेकिन दूसरों का काम संभालने और भक्तों का हुक्म बजाने से पहले वह अपना काम तो संभाले। तभी हम मानेंगे कि वह बड़ा शक्तिमान या सब कुछ कर सकने वाला है–सब कुछ करता है। एक दिन किसान के घी से भगवान के मन्दिर में दीप मत जलाइये और भगवान से कह दीजिये कि आपकी सामर्थ्य की परीक्षा आज ही है। देखें, आपके घर में–मन्दिर में–मस्जिद में–अंधेरा ही रहता है या उजाला भी होता है। रात भर देखते रहिये। मन्दिर का फाटक बन्द करके छोटे से सूराख से रह-रहकर देखिये कि कब चिराग जलता है! आप देखेंगे कि जलेगा ही नहीं, रात भर अंधेरा ही रहेगा!

इसी प्रकार एक दिन न घण्टी बजे, न आरती हो और न भोग लगे! किसान के गेहूँ, दूध और उसके पैसे से खरीदी घण्टी, आचमनी आदि हटा लीजिये। फिर देखिये कि दिन-रात ठाकुरजी भूखे रहते और प्यासे मरते हैं या उन्हें भोजन उनकी लक्ष्मीजी पहुंचाती हैं, दिन-रात मन्दिर सुनसान ही और मातमी शक्ल बनाये रह जाता है या कभी घण्टी वगैरह भी बजती है! पता लगेगा कि सब मामला सूना ही रहा और ठाकुरजी या महादेव बाबा को 'सोलहों दण्ड एकादशी' करनी पड़ी! एक बूंद जल तक नदारद–आरती, चन्दन, फूल आदि का तो कहना ही क्या! सभी गायब! वे बेचारे जाने किस बला में पड़ गये कि यह फाकामस्ती करनी पड़ी।

और ये मन्दिर बनते भी हैं किसके पैसे और किसके परिश्रम से? जब मन्दिर का कोटा टूट जाय, तो ललकार दीजिये ठेठ भगवान को, वे जरा खुद-ब-खुद मरम्मत तो करवा लें। नये मन्दिर बनाने की तो बात ही दूर रही! वह कोना तब तक टूटा का टूटा ही रहेगा जब तक किसान का पैसा और मजदूर का हाथ उसमें न लगे! यदि कोई मन्दिर भूकम्प से या यों ही अकस्मात् गिर गया हो और भगवान उसी के नीचे दब गये हों तो उनसे कह दीजिये कि बाहर निकल आयें अगर शक्तिमान हैं! पता लगेगा कि जब तक गरीब लोग हाथ न लगायें, तब तक भगवान उसी के नीचे दबे कहराते रहेंगे। चाहे मरम्मत हो या नये-नये मन्दिर बनें–सभी केवल मेहनत करने वालों के ही पैसे या परिश्रम से तैयार होते हैं।

आगे बढ़िये! गंगा को तीर्थ, मन्दिर को मन्दिर, जगन्नाथ धाम को धाम किसने बनाया है? किसके चरणों की धूल की यह महिमा है कि तीर्थों, मन्दिरों और धामों का महत्त्व हो गया? किसने गोबर को गणेश और पत्थर को विष्णु या शिव बना डाला? क्या अमीरों और पूंजीपतियों ने? सत्ताधारियों ने? यदि नंगे पांव और धूल लिपटे किसान मजदूर गंगा में स्नान न करें, उन्हें गंगा माई न मानें, मन्दिरों में न जायें तो मन्दिर का महत्व न हो, जगन्नाथ और रामेश्वर धाम न जायें तो क्या सिर्फ मालदारों के नहाने, दर्शन करने या तीर्थ-यात्रा से गंगा आदि तीर्थों, मन्दिरों और धामों का महत्व रह सकता है? उनका काम चल सकता है? गरीबों ने यदि बहिष्कार कर दिया तो यह ध्रुव सत्य है कि राजाओं-महाराजाओं और सत्ताधारियों की लाख कोशिश करने पर भी गंगा और तलैया में कोई अन्तर न रह जायगा, मन्दिर और दूसरे मकान में फर्क न होगा और धामों या तीर्थों की महत्ता खत्म हो जायगी। उन लोगों के दान-पुण्य से ही मन्दिरों और धामों का काम और खर्च भी नहीं चल सकता यदि गरीबों के पैसे-धैले न मिलें। जल्द ही दिवाला बोल जायगा और पण्डे-पुजारी मन्दिरों, तीर्थों और धामों को छोड़कर भाग जायंगे!

यह तो करोड़ों गरीबों के नंगे पांवों में लगी धूल–चरण रज–की ही महिमा है, यह उसी का प्रताप है कि वह जब गंगा में पहुंचकर धुल जाती है तो वह गंगा माई कहलाती है; जब मन्दिरों में वही धूल पहुंच जाती है तो वहां भगवान का वास हो जाता है, पत्थर को भगवान व गोबर को गणेश कहने लगते हैं; जब वही धूल जगन्नाथ और रामेश्वर के मन्दिरों में जा पहुंचती है तो उनकी सत्ता कायम रहती है और उनकी महिमा अपरम्पार हो जाती है। गरीबों के तो जूते भी नहीं होते। इसीलिए तो उनके पांवों की धूल ही वहां पहुंच कर सब को महान बनाती है।

कहते हैं कि महादेव बाबा खुद तो दरिद्र और नंगे-धड़ंगे शमशान में पड़े रहते हैं, मगर भक्तों को सब सम्पदायें देते हैं–उन्हें बड़ा बनाते हैं! पता नहीं, बात क्या है? किसी ने आंखों से देखा नहीं। मगर ये किसान और कमाने वाले तो साफ ही ऐसे 'महादेव बाबा' हैं कि स्वयं दिवालिये होते हुए भी, ईश्वर तक को ईश्वर बनाते और खिलाते-पिलाते हैं!

ईश्वर सबको खिलाता-पिलाता है, ऐसा माना जाता है–सही। मगर किसने उसे हल चलाते, गेहूँ, बासमती उपजाते, गाय-भैंस पाल कर दूध-घी पैदा करते, हलुवा-मलाई बनाते तथा किसी को भी खिलाते देखा है? लेकिन किसान तो बराबर यही काम करता है। वह तो हमेशा ही दुनिया को खिलाता-पिलाता है! इतना ही नहीं। कहते हैं कि ईश्वर तो केवल भक्तों को खिलाता और पापियों को भूखों मारता है। वह अपनों को ही खिलाता है। इसलिए वह एक प्रकार की तरफदारी करता है। मगर किसान की तो उल्टी बात है! वह तो जालिमों और सताने वाले जमींदारों, साहूकारों और सत्ताधारियों को ही हलुवा-मलाई खिलाता है और खुद बाल-बच्चों के साथ या तो भूखा रहता है या आधा पेट सत्तू अथवा सूखी रोटी खाकर गुजर करता है! ऐसी दशा में असली भगवान तो वह किसान ही हैं!

दुनिया माने या न माने। मगर मेरा तो भगवान वही है और मैं उसका पुजारी हूं। खेद है, मैं अपने भगवान को अभी तक हलुवा और मलाई का भोग न लगा सका, रेशम और मखमल न पहना सका, सुन्दर सजे-सजाये मन्दिर में पधरा न सका, मोटर पर चढ़ा न सका, सुन्दर गाने-बजाने के द्वारा रिझा न सका और पालने पर झुला न सका। मगर उसी कोशिश में दिन-रात लगा हूं–इसी विश्वास और अटल धारणा के साथ कि एक-न-एक दिन यह करके ही दम लूंगा; सो भी जल्द!

स्रोत–स्वामी सहजानंद रचनावली

भारतीय नृत्य शैलियां

■ श्रुति चतुर्वेदी

भारत का प्रत्येक क्षेत्र सामाजिक, सांस्कृतिक, पारम्परिक, प्राकृतिक, भौगोलिक आदि पक्षों में भिन्न होने के बावजूद भी एक एकात्मकता रखता है। सच है हर क्षेत्र की अपनी अलग खासियत है व अलग समस्याएं हैं। हर क्षेत्र में तनाव है, विचारों में मतभेद हैं, एक-दूसरे के काम करने के तरीकों में मतभेद हैं। तनाव है सत्ता पक्ष की नीतियों और आम इंसान की ज़रूरतों में। स्वयं को श्रेष्ठ व दूसरे को नीचा दिखाना, विभिन्नताओं को स्वीकार करने के बजाय उन्हें बदलने अथवा अपने जैसा बनाने का प्रयास, यह रवैया हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। चाहे वह राजनीति हो, तकनीक हो, संस्कृति हो या कोई अन्य क्षेत्र। इन तनावों से कला भी अछूती नहीं है। मतभेद इस बात पर कि कौन-सी कला श्रेष्ठ है गायन, वादन, नृत्य, या थियेटर। अब सवाल ये उठता है कि किसी भी कला के श्रेष्ठ होने का मापदण्ड क्या है? यह कौन तय करेगा कि एक प्रकार की कला दूसरे की तुलना में श्रेष्ठ है? यह विवाद कि शास्त्रीय कलाएं लोक कलाओं से श्रेष्ठ हैं, और लोक कलाऐं शास्त्रीय कलाओं के मुकाबले आम इंसान के जीवन के ज्यादा करीब हैं, देखा जाए तो यह सारे विवाद बेबुनियाद, खोखले और अनावश्यक हैं।

कोई भी कला चाहे वह जीवित हो या हमारे अतीत का हिस्सा दरअसल वह आम इंसानों के जीवन से ही उपजी है। वह उसके व्यवहार, संवेदना और जीवनयापन के तरीकों का ही प्रतिबिम्ब है।

जैसे-जैसे मनुष्य सभ्यता की ओर बढ़ा वैसे-वैसे इन कलाओं में भी परिपक्वता और निखार आया। तमाम कलाएं एक दूसरे पर निर्भर हैं, परस्पर संबद्ध है और एक दूसरे के बिना इसका पनपना और निखरना नामुमकिन है। हर तरह की कला समय व समाज के साथ बदलती है और स्वयं को उक्त परिवेश में ढाल लेती है। चाहे वह लोक कला हो या शास्त्रीय कला। कला कभी भी ठहरती नहीं है। कला अपने समय और युग का प्रतिबिंब और उसकी प्रतिनिधि होती है। यही कारण है चाहे वह आदि मानव हो या आधुनिक युग का इंसान, कलाएं उसके जीवन का केंद्र बिंदु रही हैं।

किसी भी कला को श्रेष्ठ घोषित करने में न सिर्फ इतिहास को बल्कि सामाजिक व राजनैतिक घटनाओं का भी ध्यान रखना चाहिए। देखा गया है कि समाज के उच्च वर्ग, मुख्यतः ब्राह्मण वर्ग और उनके सौंदर्य बोध ने नृत्य शैलियों को श्रेष्ठ होने का दर्जा दिया। यह मानकर चलना चाहिए कि समाज का उच्च वर्ग, जो कि सबसे ज़्यादा शिक्षित व संभ्रांत वर्ग होता है उनका सौंदर्यबोध आम लोगों से भिन्न होगा ही। इसके साथ-साथ इस कुलीन वर्ग का प्रभाव सत्ता पक्ष पर होने की वजह से कला का सामाजिक और राजनैतिक स्थान भी यही कुलीन वर्ग तय करता है। इसका साफ मतलब यह है कि जब हम किसी नृत्य शैली के स्वरूप और परंपरा की बात करते हैं तो हम उसके साथ जुड़ी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की भी बात करते हैं। हमारे समाज में ब्राह्मणवाद के आधार पर अपनी श्रेष्ठता तथा उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए, समाज के कुलीन और संभ्रांत वर्ग ने कला को भी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का माध्यम बनाया। आम इंसान की कला को उसके प्राकृतिक परिवेश से उठाकर एक ऐसे स्तर पर पहुंचाया जिसका स्वामित्व सिर्फ उच्चतम वर्ग के हाथों में हो। परिणामस्वरूप जिस कला में कलाकार व दर्शक में कोई अंतर नहीं था, जहां साझेपन की अनुभूति होती थी वहीं कलाकार और दर्शक में अंतर आया और कला को उपभोग की वस्तु के रूप में पेश किया जाने लगा। सामाजिक, ऐतिहासिक, पारम्परिक बदलाव की वजह से कला के रूपों को भी कई उतार-चढ़ाव झेलने पड़े।

आइये देखते हैं भारतीय नृत्य किस तरह हमारी साझी विरासत का हिस्सा है :

भारत की विभिन्न कलाएं, वेश-भूषा, खान-पान, भाषाएं, पर्व, त्योहार, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां व परम्पराएं हमारी साझी विरासत के कई पक्षों में से हैं। साझी विरासत के इन पक्षों का निर्माण इंसान ने अपने लिए और समाज को आपस में जोड़ने के लिए किया। यह सारे पक्ष हमारी आम दिनचर्या का हिस्सा हैं। साझी विरासत के इन रूपों को हम प्रतिदिन, प्रति पल जीते हैं। यह पक्ष हमें आपस में जोड़ते हैं। हमें तनाव और तनाव से फायदा उठाने वाले तत्वों का सामना करने की सामर्थ्य देते हैं। साझी विरासत का एक ऐसा ही पक्ष है नृत्य।

नृत्य व संगीत प्राचीन काल से इंसान के जीवन का अटूट हिस्सा रहा है। एक मान्यता के अनुसार शब्दों की ईजाद से पहले संकेत और मुद्राओं के माध्यम से इंसान ने अपने भाव जैसे प्रेम, वात्सल्य, क्रोध, भय, दया आदि की अभिव्यक्ति नृत्य, संगीत व चित्रों के ज़रिये की। यह कलाएं हमारे जीवन में इतना घुल मिल जाती हैं कि, हमें यह आभास भी नहीं होता कि हम साझी विरासत जी ही नहीं रहे हैं बल्कि इसे और विकसित कर रहे हैं। बदलते मौसम, त्यौहार हम आपस में मिलकर मनाते हैं।

फसल काटना, सावन का आना, नई फसल बोना, इन सबका हमारे जीवन में महत्व है और हम इसकी अभिव्यक्ति संगीत, नृत्य, नाटक व अन्य कलाओं के माध्यम से करते हैं। हर इलाके की अपनी एक खास शैली होती है व अपना अलग पहनावा व खान-पान होता है। शादी-ब्याह, सगाई, जन्म आदि को संगीत, नाटक, नृत्य के माध्यम से सामूहिक रूप से मनाते हैं। नृत्य, समाज व इंसान का अभिन्न अंग है। इस कला में अपने शरीर के माध्यम से इंसान अपनी बात कहता है। लय, ताल व सुरों में पिरोकर वह अपनी बात अपने सम्पूर्ण शरीर के माध्यम से लोगों तक पहुंचता है। जहां एक ओर लोक नृत्य में सरलता व सहजता होती है वहीं शास्त्रीय नृत्यों में शैलीगत भाव भंगिमाओं का वर्चस्व होता है। लोक और शास्त्रीय नृत्य दोनों ही आम इंसान के जीवन काल की गाथा बताते हैं। लोक नृत्य परम्परा एवं शास्त्रीय नृत्य परम्परा न सिर्फ इतने सालों से जीवित है, बल्कि अपनी अंदरूनी शक्ति व सजीवता से कला को नए रूप देने में सक्षम है यानि कि लोक व शास्त्रीय कलाएं अलग-अलग नहीं हैं बल्कि आपस में संबंधित हैं। कोई ऐसा क्षेत्र, वादी, समुद्री तट या ज़मीन नहीं है जिसका अपना लोक नृत्य और संगीत न हो। जैसे :

— कश्मीर के वत्तल कबीले का **दुमहल**
— पूरे उत्तर प्रदेश में **रासलीला** का मंचन किया जाता है।
— उत्तरांचल के कुमाऊँ क्षेत्र में बरसात के मौसम में धान, मडुवा आदि के गुड़ाई-निराई के दौरान **हुड़का बौल** गाया जाता है। हुड़का का अर्थ है डमरू। डमरू ही एक मात्र वाद्य यंत्र है जो कि इसके दौरान बजाया जाता है। किसान समूह में एक साथ गाते-बजाते हैं और ताल के साथ-साथ नाचते हैं।

— कुमाऊँ का **छोलिया** नृत्य शादी के दौरान पुरुषों द्वारा

तलवार और ढाल लेकर समूह में किया जाता है।

— आन्ध्र प्रदेश के लम्बाडी कबीले का **लम्बाडी** नृत्य जो उनकी आम दिनचर्या का हिस्सा है।
— तमिलनाडु के लोक नृत्य **कुम्मी** व **कोलाट्टम**।
— तमिलनाडु की ही एक और नृत्य शैली है **करगम**। इसमें कच्चे चावल से भरा मटका, जिसके ईर्द-गिर्द बांस की पत्तियां होती हैं, को सरों पर संतुलित करते हुए नृत्य करना होता है।
— कर्नाटक का **डोलू कुनीथा**, जिसमें आदमी बड़े ढोलों की थाप पर नृत्य करते हैं।
— गुजरात का **गरबा** जो नवरात्रों के दौरान मूलतः महिलाओं का नृत्य है। नवरात्रि को अम्बा देवी के सम्मान में महिलाएं तालियों की थाप पर घेरों में नृत्य करती हैं। यही नृत्य जब पुरुष करते हैं तो उसे गरबा कहा जाता है।
— पंजाब का उर्जापूर्ण **भांगड़ा** जो कि बैसाखी त्योहार पर पुरुषों द्वारा नाचा जाता है।
— पंजाब का लोकनृत्य **गिद्दा** महिलाओं की शैली है। इस शैली में महिलाएं समूहों में नृत्य करती हैं लेकिन अक्सर एक या दो महिलाएं बीच में आकर नृत्य करती हैं और अन्य तालियों की थाप देती हैं।
— राजस्थान का **डांडिया** जो पुरुषों और महिलाओं द्वारा लंबी डंडियों के साथ-खेला जाता है।
— मणिपुर का **ढोल चोलम** जिसमें पुरुष बड़े-बड़े ढोलों (मणिपुरी मृदंग या पुंग) के साथ-साथ घेरे में चक्कर लगाते हुए उछल-उछल कर नाट्य-नृत्य के करतब दिखाते हैं।
— सैन्य अंदाज के हाव भाव पर आधारित **छऊ** नृत्य की तीन शैलियां **सरायकेला** (बिहार), **पुरूलिया** (पश्चिमी बंगाल) और **मयूरभंज** (उड़ीसा) में पनपी और पली बढ़ी। मुखौटों के विस्तृत और व्यापक इस्तेमाल के कारण छऊ नृत्य शैलियों को 'छाया', 'बहरूप' या फिर 'शौर्य छवि' के रूप में भी व्याख्यायित किया जा सकता है।
— असम का **बीहू** नृत्य। बीहू उत्सव मध्य अप्रैल में फसल की कटाई के दौरान मनाया जाता है। इस उत्सव में बच्चे, बूढ़े, गरीब, अमीर सभी उत्साह के साथ नृत्य करते हैं। ढोल और 'पाइप' (एक तरह की बासुरी) बजायी जाती है और मुख्यतः प्रेमगीत गाए जाते हैं। बीहू नृत्य आम तौर पर घेरे में या 'पैरलल लाईन्स' में किया जाता है।
— **कोडियट्टम** केरल के चकयार समुदाय की नृत्य शैली है। कोडियट्टम प्राचीन संस्कृत नाट्य विद्या से निकली शैलियों की सबसे पुरानी शैली मानी जाती है। इसका रिश्ता नाट्यशास्त्र से भी जुड़ता है क्योंकि इसमें भी 'डबल रोल', कहानी के अंदर कहानी, और चेहरे और शरीर की मुद्राएं नाट्यशास्त्र की तर्ज़ पर ही होती हैं।

नृत्य कलाओं को सामाजिक व सांस्कृतिक विकास के अनुसार तीन वर्गों में बांटा जा सकता है; आदिवासी, लोक, पारम्परिक नृत्य। मूलतः यह कलाएं सरल होती हैं व आम दिनचर्या के ईर्द-गिर्द घूमती हैं। पुरुष, महिलाएं व बच्चे सामूहिक नृत्य के माध्यम से हर पर्व व मौसम को हर्ष और उल्लास के साथ मनाते हैं। यहां कलाकार और दर्शक में कोई अंतर नही होता, सब इसका हिस्सा होते हैं, सहभागी और सृजनकर्ता होते हैं। कश्मीर, हिमाचल, उत्तर प्रदेश या फिर पूर्व और उत्तर पूर्व के पहाड़ी क्षेत्रों के संगीत, तान, लय, वाद्य और नृत्य में असाधारण समानता दिखाई देती है। यहां तक कि मुद्राओं और नृत्य में शरीर के विभिन्न अंगों के इस्तेमाल में भी समानता नज़र आती है। यही साझी विरासत है।

हिमालय के उतार-चढ़ाव, चोटियां और घाटियां, लहराते नज़र आते शिखरों से मेल खाती नृत्य मुद्राएं इन क्षेत्रों की विशेषता हैं। फैलती बाहें पैरों और घुटनों की लचक से लेकर कमर और गर्दन से जुड़ी मुद्राएं यही सब कुछ दर्शाती हैं। पूर्वी क्षेत्रों, विशेषकर असम और उसके आस-पास के नृत्यों की मुद्राओं की अपनी अलग विशेषता है। एक खास लय में चल रहे नृत्य में अचानक शारीरिक मुद्राओं का जल्दी-जल्दी बदलना उस क्षेत्र की जलवायु, अचानक आने वाले तूफ़ानों और उससे जुड़े बिखराव का प्रतीक है। जंगलों की अनजान वादियों के रहस्य की झलक, नागालैण्ड के नागाओं और मेघालय क्षेत्र के नृत्यों में देखने को मिलती है। यहां के नृत्य काफी सघन रूप से नृत्य शैली के एक-एक आयाम प्रस्तुत करते हैं। सौराष्ट्र के मछुआरों के नृत्यों की सारी मुद्राएं समुद्र की लहरों से प्रेरित होती हैं जबकि मैदानी क्षेत्रों के लोकनृत्य लय और रंगों से कुछ अलग ही अंदाज़ पेश करते हैं।

आखिर में एक बात ज़ोर देकर कहनी है : कला में हर दायरे को पार करने की क्षमता है। हमें अनावश्यक विवादों में उलझने की अपेक्षा समानताओं को महत्व देना चाहिये। हमें इन समानताओं के साथ-साथ उन पक्षों और कलाओं को भी सम्मान देना है जो हमारी परंपराओं से भिन्न हैं। विभिन्न कलाएं और उनसे जुड़ी विधाएं हमारी साझी विरासत का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। समाज को तोड़ने वाले तत्वों के विरुद्ध यह कलाएं एक सशक्त अस्त्र हैं जो सीमाओं के परे भी हमें जोड़ती हैं और पहले से मौजूद हमारे समाजी रिश्तों को मज़बूती प्रदान करती हैं और तनाव को दूर करती हैं। हमें इन कलाओं को महफूज़ ही नहीं रखना है बल्कि इनको और भी विकसित करना है। तभी हम साझी विरासत को आगे बढ़ा पायेंगे। देश के अंदर ही नहीं बल्कि सीमाओं के परे भी।

भारत की लोकचित्र कलाएं

■ पवित्रा कपूर

लोकचित्रकलाएँ भारत की प्राचीनतम् और समृद्ध लोक कलाओं का एक अभिन्न अंग हैं। यह अन्य लोककलाओं की तरह हमें एक दूसरे से जोड़ती हैं। इनकी उत्पत्ति किसी शास्त्रीय कला की तरह मापदण्डों पर नहीं हुई है यह हमारे हृदय के भावों का दर्पण हैं। इन चित्रकलाओं को देखकर मन में जिज्ञासा के भाव उत्पन्न होते हैं जिज्ञासा उसके सामाजिक संदर्भों को समझने की, उसकी शैली और विविधता को जानने की, उसके रूप को सराहने की इत्यादि।

भारतीय लोक चित्र कलाओं में देवी देवता, ऋतुएं, जनजीवन से जुड़े दृश्य, लोक गाथाओं की नायक और नायिकाएं, वन्य जनजीवन इत्यादि को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। इन कला रूपों में प्रयोग में आने वाली वस्तुएं स्थानीय उपलब्धता के अनुसार प्रयोग की जाती है।

लोक चित्रकलाओं में महिलाओं की मुख्य भूमिका रही है। ये उत्तर प्रदेश की **कोहबर**, बिहार की **मधुबनी**, **चौक पुरना** और **रंगोली** जो अन्य नामों से भी जानी जाती है जैसे कि अल्पना, अलोपना, अइपन, भूमिशोभा, कोलम। इनमें से बहुत सी चित्रकलाएं दीवारों या ज़मीन पर मिट्टी का लेप कर उनमें रंग भरने से बनायी जाती हैं। यह कृतियां मन को मोह लेती हैं। महिलाओं के लिए यह उनके जीवन का अभिन्न अंग है। महिलाएं ही स्वस्थ साझी विरासत की वाहक हैं और शताब्दियों से अपनी भूमिका का बखूबी निर्वाह करती आयी हैं।

भारत में प्रचलित कुछ लोकचित्र कलाओं का विवरण इस प्रकार हैं :-

झोती : उड़ीसा के आदिवासियों और ग्रामीणों की लोककला है। इसमें ज़मीन और दीवार पर रेखाएं खींचकर सुरक्षा की कामना और बुराई को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

कलमकारी : आंध्रप्रदेश के श्रीकलाहास्ती ज़िला कलमकारी के लिए प्रसिद्ध है। कलम से की जाने वाली कारीगरी को कलमकारी कहते है। इस लोककला में बांस से बनी। नुकीली कलम और सब्जियों द्वारा तैयार किए गये रंगों का प्रयोग किया जाता है। रंगों का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में किया जाता है। कलमकारी चित्र कहानी कहते हैं और इन को बनाने वाले कलाकारों में अधिकतर महिलाएं हैं।

तंजावौर और मैसूर चित्रकला : दक्षिण भारत में तंजावौर और मैसूर चित्रकला बहुत प्रचलित है। इस विधा में कृष्ण के बाल रूप और यशोदा की आकृतियों की प्रधानता है। इसमें अन्य हिंदू देवी-देवताओं को भी चित्रित किया जाता है। यह चित्रकारी मुख्यतया पूजाघर की दीवारों के लिए की जाती है। इन चित्रों को उभारा जाता है और इनमें चटक रंगों का प्रयोग होता है। रंगों के साथ सोने का पानी और नगों का प्रयोग इस चित्रकला को और भी सुंदर बना देता है। तंजावौर और मैसूर चित्रशैलियों के बनाने की प्रक्रिया में अनेक अंतर हैं। परंतु दोनों ही शैलियां मनमोहक हैं।

कुमाउँनी चित्र : उत्तरांचल की कुमाउँनी चित्रकला में जन्माष्टमी के समय कृष्ण लीलाओं का चित्रण किया जाता है। इस चित्रकला में पारम्परिक रंगों का प्रयोग कर कागज़ पर मनमोहक चित्रों की रचना की जाती है। इस प्रकार के चित्र अन्य त्योहारों और अवसरों के लिए भी बनाए जाते हैं।

पटना कलम : पटना कलम बिहार की एक और लोकप्रिय शैली है। 18वीं, शताब्दी के आस-पास इस क्षेत्र में इसका प्रचलन बढ़ा। इसलिए इस शैली में मुगल और यूरोपीय शैली का मिश्रण देखने को मिलता है। इस शैली के चित्रकार मुगल कलाकारों के वंशज थे जो मुगल काल के पतन के बाद पटना के आसपास आकर बस गए। यह शैली अपने रंगों और हाथ से बने कागज़ के प्रयोग के लिए प्रसिद्ध है। यह चित्र अधिकतर बिहार के लोगों के जनजीवन को दर्शाते हैं।

पिछवाई चित्रकला : यह चित्र मंदिरों के गर्भगृह को सजाने के काम में लाए जाते हैं। इन चित्रों का प्रयोग देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के पीछे लगाने के लिए होता है। इस चित्रकला का मुख्य केंद्र राजस्थान का नाथद्वारा मंदिर है। यह चित्र कपड़े पर पारंपरिक रंगों का प्रयोग कर बनाए जाते हैं। यह त्योहार के रंग, विषय और भाव की अभिव्यक्ति करते हैं।

फड़ चित्रकला : फड़ चित्रकला कपड़े पर होती है यह भी राजस्थान की लोकप्रिय लोकलाओं में से एक है। इस प्रकार के चित्र भीलवाड़ा क्षेत्र में अधिक पाये जाते हैं। यह चित्र ग्राम देवी, देवताओं, नायकों की कथाएँ दर्शाते हैं। इन चित्रों को लेकर लोक गायक गाँव-गाँव घूमते हैं और इन कथाओं का बखान करते हैं।

उष्ट कला : राजस्थान के बीकानेर में ऊँटों की खाल पर नक्काशी और चित्र बनाने की एक कला है। यह ईरान से मुगल काल में यहाँ आई और बीकानेर में प्रचलित हो गई जो अब भारतीय संस्कृति का हिस्सा हो गई है।

वर्ली चित्रकला : वर्ली चित्रकला महाराष्ट्र की लोकप्रिय चित्रकलाओं में से है। रेखाओं और त्रिकोणों का प्रयोग कर इस चित्रकला में जीवन चक्र को दिखाया गया है। इन चित्रों को बनाने के लिए सफेद रंग का प्रयोग होता है। यह रंग चावल के चूरे से बनाते हैं। इन चित्रों को आदिवासी अपने घर की बाहरी दीवारों पर चित्रित करते हैं।

तनखा चित्रकला : यह चित्रकला नेपाल और सिक्किम के पहाड़ी क्षेत्रों में अधिक की जाती है। तनखा चित्रकला के चित्रकार अधिकतर बौद्धधर्म के अनुयायी होते हैं। यह चित्र बुद्ध के जीवन के विभिन्न पक्षों और जातक कथाओं के चित्रों के साथ, देवी-देवताओं, दैत्यों आदि की कथाएँ भी चित्रित करते हैं।

ऊपर लिखे सभी लोकचित्र कला परम्पराओं में क्षेत्रीय विविधता के बावजूद भी जनजीवन और देवी-देवताओं की जीवनी का चित्रण पाया जाता है और इस तरह ये साझी विरासत का जीवन्त प्रतीक हैं। हमें इन प्रतीकों को महफूज रखना है।

लोकनृत्य राजस्थान

■ डॉ. द्वारका प्रसाद वर्मा

राजस्थान कई मायनों में देश के दूसरे इलाकों की तुलना में कुछ अलग-सा और अनूठा है। बात चाहे भूगोल या इतिहास की हो, चाहे शक्ति और भक्ति की हो अथवा फिर कला या संस्कृति की हो -- लोकरंगों की जितनी विविधता यहां देखने को मिलती है, शायद ही कहीं और मिले। राजस्थानी लोकनृत्यों की भी ऐसी ही समृद्ध परम्परा है।

लोक में प्रचलित इस अकूत साझी संपदा का संरक्षण करना, उसमें साझेदारी निभाना बहुत ज़रूरी है। यह लोक ही हमारी मौखिक और श्रुत-परम्पराओं का प्राचीन और महत्वपूर्ण माध्यम रहा है। कहने, सुनने और देखने की परम्पराएं इंद्रिय-गोचर हैं। जो कुछ देखा, सुना, छुआ, सूंघा और चखा जा सकता है, वह सब कुछ इस लोक में ही समाहित है।

इन लोक-परम्पराओं का अहम पहलू है सम्प्रेषण। यह सम्प्रेषण सिर्फ भाषा का ही नहीं, हाव-भाव का, इशारे का, चेष्टा और नकल का, हंसी और रुदन का तथा मौन और मदद का भी होता है। भाषा से पहले तो संप्रेषण का माध्यम संकेत ही था, जो इंसान के साथ आदिम काल से ही चला आया है। ऐसे अनेक माध्यमों में नृत्य इस प्राचीन परम्परा का सशक्त और कलात्मक माध्यम है। आज भी हमारी साझी अमूल्य और सामूहिक विरासत के रूप में देशभर में ये नृत्य शिद्दत के साथ मौजूद हैं।

लोकनृत्य समूह की रचनाएं हैं और समूह की भागीदारी ही इनका उद्देश्य है। सामुदायिक रूप में ही ये फलते-फूलते हैं और अभिव्यक्ति भी समूह में ही पाते हैं। समूह में ही हर व्यक्ति नृत्य रचता रहता है। कोई भी व्यक्ति, समुदाय या कबीला ऐसा नहीं है कि जहां नाच-गाना न हो। लोकनृत्यों में यों तो महिलाएं और पुरुष मिल-जुलकर अपनी साझेदारी निभाते हैं, बावजूद इसके कहना पड़ेगा कि इस साझी विरासत को महिलाओं ने ही संभालकर रखा है। लोकनृत्यों की सुंदरता, विविधता और निरंतरता को वहन करने में महिलाएं पुरुषों से कहीं दो कदम आगे ही हैं।

राजस्थान में प्रचलित लोकनृत्यों की विविधता का अंदाज़ इस बात से ही लगाया जा सकता है कि वहां सिर्फ महिलाओं और पुरुषों के ही नृत्य नहीं हैं, बल्कि बच्चों, किशोर-किशोरियों और जवान लड़कियों के लिए भी अलग-अलग नृत्य हैं। छोटे बच्चों के नाच का नाम है 'खोदा', जबकि किशोरावस्था के लिए है 'छमछड़ी'। इसके अलावा जवान, लेकिन कुंवारी लड़कियों का बड़ा ही सधा हुआ और बिजली को भी मात देने वाला चक्करदार नृत्य है। 'चकरी' परम्परा में इसका नाम 'राई' था, लेकिन घाघरे की तेज गति व घूमती-इठलाती चकरियों के कारण इसे 'चकरी' कहा जाने लगा।

इतिहासपरक नृत्यों की पृष्ठभूमि में कोई घटना विशेष या कोई पुराना प्रसंग जुड़ा होता है। पुरानी घटना या किसी नायक विशेष को याद करते हुए ये नृत्य अपने हाव-भाव, पहनावे और अंग-संचालन से वीरता और बहादुरी के भाव व्यक्त करते हैं। ऐसे नृत्यों में इतिहास भी जीवंत हो उठता है। **'आंगी-बांगी', 'मांडल का नार' (शेर), 'तलवारों की गैर'**, तथा **'घुड़ला'** नामक ऐसे ही लोकनृत्य हैं, जिनमें ऐतिहासिक प्रसंगों अथवा नायकों को फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है।

राजस्थानी लोकनृत्यों में मान-मनोवल के नृत्य हैं, तो उलाहनों-शिकायतों वाले नृत्य भी हैं। जुलूस और सवारी वाले नृत्यों की तो छटा ही निराली है। मेले-ठेले और उत्सव-पर्व वाले नृत्यों का तेवर ही अलग है। यहां शिकार नृत्य हैं, तो नुगरी-सुगरी आत्माओं को प्रसन्न करने वाले नृत्य भी हैं। आदमी को सम्मोहित कर मज़बूर करने वाले नृत्य हैं, तो करिश्मा और कौतुक दिखाने वाले अजूबे नृत्य भी यहां हैं। फसलों से जुड़े लोकनृत्यों की बहार भी यहां कम नहीं है, तो कठपुतली-नृत्यों की तो कोई सीमा ही नहीं है।

गीत-नृत्य, गाथा-नृत्य, नाट्य-नृत्य आदि अनेक रूपों में ये लोकनृत्य हमारी अनुपम विरासत हैं। इनमें से बहुत से नृत्यों की पहचान अथवा बनावट सीमावर्ती प्रदेशों का असर लिए हुए है। राजस्थानी नृत्यों में 'बम', 'डांग', 'रसिया' आदि पर ब्रज-संस्कृति की गहरी छाप है, तो 'भवाई' जैसा नृत्य गुजरात का नया ही रंग भर देता है। जसनाथी सिद्धों का 'अग्नि', रावलों का 'खेड़ा', कामड़ों का 'तेराताली' आदि लोकनृत्य अपने नजदीकी अंचलों से साझेदारी निभाते हुए इस कला को विस्तार देते हैं।

गेरू, रासतुड़ा, भणात, कीलियो-बोरियो जैसे नृत्यों को श्रम-नृत्य कहा जा सकता है। कठिन से कठिन काम करते हुए भी इनके सहारे आदमी खुद को हलका महसूस करता है। ये नृत्य श्रम को मनोरंजक बना देते हैं।

लोकनृत्यों की एक शाखा घूमंतु जीवन जीने वाले नट और कालबेलियों के नृत्यों की हैं। ये लोग जन्मजात कलाकार होते हैं और राजस्थान के अलावा दूसरे प्रदेशों में अपने नृत्य-प्रदर्शन से रोजी-रोटी कमाते हैं। चौमासे के चार महीनों को छोड़कर बाकी समय में अपने डेरों के साथ ये खानाबदोश लोग दूसरी जगहों के लिए निकल पड़ते हैं। अलवर जिले के कोई तेरह सौ नट-परिवार इसी तरह सैंकड़ों बरसों से यायावरी जीवन के अभ्यासी बने हुए हैं। इन परिवारों की जवान बहू-बेटियां हरियाणा, पंजाब, उत्तरप्रदेश,

मध्यप्रदेश आदि जगहों में जाकर शादी-ब्याह या दूसरे उत्सवों पर अपनी कला का प्रदर्शन करती हैं। यहां सबके अपने-अपने यजमान और इलाके बंटे हुए हैं, जहां से ये 'नेग' पाते हैं। इस प्रकार के डेरा-नृत्य भारत से बाहर भी हैं, जहां वर्षों पूर्व घूमते-घामते कलाकार वहां पहुंचकर डेरों के रूप में बस गये।

शास्त्रीय कलाओं की तरह लोकनृत्य किसी घराने के मोहताज नहीं हैं। ये अपने-आप में ही एक विशाल घराना है। अनेक शास्त्रीय कलाएं अपने मूल में लोक की धरोहर रही हैं। लोक कलाओं के विभिन्न रूपों से ही शास्त्रीय या शिष्ट कलाएं पैदा हुई हैं। लोक की पकड़ से ढीले होकर ये कला रूप शास्त्र के अंग बन गये। यदि शास्त्रीय नृत्यों की ही बात की जाए, तो देश भर में ऐसे कितने नृत्य हैं? संख्या के हिसाब से इनकी लोकनृत्यों से तुलना करना बेमानी ही होगी। शास्त्रीय नृत्यों में भरतनाट्यम, कत्थक, ओडिसी, मणिपुरी, कुचिपुड़ी, मोहिनीअट्टम आदि-आदि हैं। कत्थक नृत्य के नाम से ही पता लगता है कि कहने की मौखिक परम्परा यानी लोकगाथाओं की परम्परा से ही यह नृत्य निकला होगा। इसी प्रकार मणिपुरी (मणिपुर), ओडिसी (उड़ीसा), मोहनीअट्टम (केरल) आदि नृत्यों की ध्वनि से इनकी स्थानिकता की उपज का संकेत मिल जाता है। हमारे उस्तादी संगीत में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहां रागों के नाम ही इलाके विशेष के साथ जुड़े हुए हैं। राग जौनपुरी (जौनपुर), राग मुल्तानी (मुल्तान), राग सोरठ (सौराष्ट्र), राग मालव (मालवा) आदि अनेक राग हैं जो अपने-अपने लोक संगीत से रस खींचकर शास्त्र की दुनिया में प्रतिष्ठित हैं।

लोक के साथ शास्त्र की साझेदारी की इस लम्बी परम्परा में कुछ अपवाद भी हैं, जो लोक और शास्त्र के क्रम को उलट-पुलट देते हैं। राजस्थान में 'गवरी' नामक लोकनृत्य का इतिहास इस दृष्टि से अजीबोगरीब ही कहा जायेगा। तीसरी-चौथी सदी में उदयपुर के पास उबेश्वर मंदिर का माहौल संगीत और नृत्यमय था। गौरी-तांडव नामक शास्त्रीय नृत्य कालांतर में 'गवरी' नाम से भील आदिवासियों की ज़िंदगी का कैसे हिस्सा बन गया? इस बारे में भीलों में बड़ा दिलचस्प मिथक प्रचलित है कि किसी समय पंडितों ने यह नृत्य सवा रुपये में उनके यहां गिरवी रख दिया था, जिसे वे आज तक वापस नहीं छुड़ा सके।

आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी के असर से कुछ लोकनृत्यों की संरचनाओं में बदलाव भी आया है। कुछ की पहचान धूमिल हुई है तो कुछ लोकनृत्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर की ख्याति भी पा गये हैं। कुछ ऐसे भी लोकनृत्य हैं जिनका परम्परागत नाम ही बदल कर दूसरा हो गया है। लोकनृत्यों की इस विपुल और प्राचीन विरासत को लोक ने अपनी साधना और लगन के बल पर लोकजीवन में, मनुष्य के जीवन में उसका एक अंग बनाकर प्रतिष्ठित कर दिया है। ये लोकनृत्य मनोरंजन करने वाली कोरी कलाबाज़ी नहीं हैं, बल्कि ये इतिहास, संस्कृति, कला, दर्शन और कुल मिलाकर जीवनधर्मिता के वाहक हैं। ये लोकनृत्य हम सभी के हैं।

लोकगीत अवधी

■ सुशील

लोकसाहित्य जनता द्वारा सामूहिक रूप से रचा जाता है भारतीय संस्कृति में लोकगीतों की समृद्ध परम्परा है। लोकजीवन से जुड़ी यह परम्परा लोककण्ठों में रची-बसी और बिखरी हुई है। मिट्टी की सोंधी गंध का फैलाव और मनुष्य का प्रकृति से संवेदनात्मक जुड़ाव लोकगीतों में मुखर है। ये खुशी और गम की सहज अभिव्यक्ति है। जन्म से मृत्यु तक, जीवन के विभिन्न संस्कार, रीति-रिवाज, धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सवों के प्रति आस्था, लोक-विश्वास, प्रकृति पूजा आदि अवधी लोकगीतों के प्रमुख विषय हैं। उत्तर प्रदेश के अवध इलाके में अवधी लोकगीत ज़्यादातर अवसर विशेष, ॠतु विशेष और कर्म विशेष से जुड़े हुए मिलते हैं। लोकगीत और साहित्य हमारे 'आधुनिक जीवन की लय' के साथ मेल खाता हो या न खाता हो पर संस्कृति की धारा को अविच्छिन बनाये रखने में इसकी बड़ी भूमिका होती है। लोकगीतों के माध्यम से सांस्कृतिक चेतना का विकास होता है और वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांरित होती रहती है।

सत्तर फीसदी भारत गाँवों में बसता है। गाँवों का जिक्र आते ही मन में खुले नीले आसमान के विस्तार का दृश्य दौड़ने लगता है, जहाँ आज भी एक आवाज़ में पूरा गाँव इकट्ठा हो जाता है जहाँ खुशी और गम के मौकों पर गाँव सिकुड़ कर एक परिवार बन जाता है। तेज़ी से हो रहे 'परिवर्तन-आधुनिकीकरण' ने गाँव को गाँव से दूर करने का काम शुरू कर दिया है और अपनी संस्कृति शहरी चकाचौंध के सामने छोटी लगने लगी है। शहरीकरण का अतिरेक उपभोक्तावाद की ओर ले जा रहा है। उपभोक्ता संस्कृति सीधे मानवीय मूल्यों पर प्रहार कर रही है और कर रही है व्यक्ति को व्यक्ति से अलग भी। ऐसे दौर में लोकसाहित्य की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। आज के दौर में लोक धारा ही प्रतिरोध की धारा बन सकती है क्योंकि वह जनता के हर क्षण साथ चलने की अभिव्यक्ति है, और वैश्वीकरण-भूमंडलीकरण इसका निषेध करता है।

इस मायने में आज साझी विरासत के प्रतीकों, मूल्यों और विश्वासों को महफ़ूज़ रखने की ही नहीं उन्हें आगे बढ़ाने की भी ज़रूरत है।

सांप्रदायिकता और संस्कृति

■ प्रेमचंद

साम्प्रदयिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिये वह गधे की भांति जो सिंह की खाल ओढ़ कर जंगल में जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़ कर आती है। हिंदू अपनी संस्कृति को क़यामत तक स्वरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं, कि अब न कहीं मुसलिम-संस्कृति है, न कहीं हिंदू-संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति अब संसार में केवल एक ही संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर हम आज भी हिंदू और मुसलिम संस्कृति का रोना रोए चले जाते हैं । हालांकि संस्कृति का धर्म से काई संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है, लेकिन ईसाई और मुस्लिम या हिंदू संस्कृति नाम की कोई चीज नहीं है। हिंदू मूर्ति पूजक हैं, तो क्या मुसलमान कब्र-पूजक या स्थान पूजक नहीं हैं, ताज़िए को शर्बत और शीरीनी कौन चढ़ाता है, मस्जिद को खुदा का घर कौन समझता है। अगर मुसलमानों में एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो बड़े-बड़े पैग़म्बरों के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है, तो हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय ऐसा है जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्म ग्रंथों को गपोड़े समझता है। यहां तो हमें दोनों संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं दीखता।

तो क्या भाषा का अंतर है? बिलकुल नहीं। मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्ली भाषा कह लें, मगर मदरासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है, जैसे मदरासी हिंदू के लिए संस्कृत। हिंदू या मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं, सर्व-साधारण की भाषा बोलते हैं, चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी, बंगला हो या मराठी। बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है, जिस तरह बंगाली हिन्दू। दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। सीमा प्रान्त का हिन्दू उसी तरह पश्तो बोलता है, जैसे वहां का मुसलमान।

फिर क्या पहनावे में अन्तर है? सीमाप्रान्त के हिन्दू और मुसलमान आपके सामने खड़े कर दिए जायं, कोई तमीज नहीं। हिन्दू स्त्री-पुरुष भी मुसलमानों के से शलवार पहनते हैं, हिन्दू-स्त्रियां मुसलमान स्त्रियों की ही तरह कुरता और ओढ़नी पहनती-ओढ़ती हैं। हिन्दू पुरुष भी मुसलमानों की तरह कुलाह और पगड़ी बांधता है। अक्सर दोनों ही दाढ़ी भी रखते हैं। बंगाल में जाइए, वहां हिन्दू और मुसलमान-स्त्रियां दोनो ही साड़ी पहनती है, हिन्दू और मुसलमान - पुरुष दोनों ही कुरता और धोती पहनते हैं। तहमद की प्रथा बहुत हाल में चली है, जब से साम्प्रदायिकता ने जोर पकड़ा है।

खान-पान को लीजिए। अगर मुसलमान मांस खाते हैं, तो हिन्दू भी अस्सी फीसदी मांस खाते हैं। ऊंचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, ऊंचे दरजे के मुसलमान भी। नीचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, नीचे दरजे के मुसलमान भी। मध्यवर्ग के हिंदू या तो बहुत कम शराब पीते हैं, या भांग के गोले चढ़ाते हैं, जिसका नेता हमारा पंडा पुजारी क्लास है। मध्यवर्ग के मुसलमान भी बहुत कम शराब पीते हैं, हां कुछ लोग अफीम या पीनक अवश्य लेते हैं, मगर इस पीनक बाजी में हिन्दू भाई मुसलमानों से पीछे नहीं हैं। हां मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और उनका मांस खाते हैं, लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियां मौजूद हैं, जो गाय का मांस खाती हैं, यहां तक कि मृतक मांस भी नहीं छोड़ती, हालांकि बधिक और मृतक मांस में विशेष अंतर नहीं है। संसार में हिन्दू ही एक ऐसी जाति है, जो गो-मांस को अखाद्य या अपवित्र समझती है। तो क्या इसलिये हिन्दुओं को समस्त संसार में धर्म-संग्राम छेड़ देना चाहिए?

संगीत और चित्रकला भी संस्कृति का एक अंग है, लेकिन यहां भी हम कोई सांस्कृतिक भेद नहीं पाते। वही राग-रागिनियां दोनों गाते हैं और मुगल काल की चित्रकला से भी हम परिचित हैं। नाट्य कला पहले मुसलमानों में न रही हो, लेकिन आज इस सीग़े में भी हम मुसलमानों

को उसी तरह पाते हैं जैसे हिन्दुओं को।

फिर हमारी समझ में नहीं आता, कि वह कौन-सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिये साम्प्रदायिकता इतना जोर बांध रही है। वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढ़ोंग है, निरा पाखंड। और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं, जो साम्प्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मंत्र है और कुछ नहीं। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के रक्षक वही महानुभाव और वही समुदाय हैं, जिनको अपने ऊपर, अपने देशवासियों के ऊपर और सत्य के ऊपर कोई भरोसा नहीं, इसलिये अनन्त तक एक ऐसी शक्ति की जरूरत समझते हैं, जो उनके झगड़ों में सरपंच का काम करती रहे। इन संस्थाओं को जनता के सुख-दुःख से कोई मतलब नहीं, उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनैतिक कार्यक्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें। उनका काम केवल एक-दूसरे का विरोध करके सरकार के सामने फ़रियाद करना और इस तरह विदेशी शासन को स्थायी बनाना है। उन्हें किसी हिन्दू या किसी मुस्लिम शासन की अपेक्षा विदेशी शासन कहीं सह्य है। वे ओहदों और रिआयतों के लिए एक दूसरे से चढ़ा-ऊपरी करके जनता पर शासन करने में शासक के सहायक बनने के सिवा और कुछ नहीं करते। मुसलमान अगर शासकों का दामन पकड़कर कुछ रिआयतें पा गया है, तो हिन्दू क्यों न सरकार का दामन पकड़ें और क्यों न मुसलमानों ही की भांति सुर्ख बना जाय। यही उनकी मनोवृत्ति है। कोई ऐसा काम सोच निकालना, जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों एक होकर राष्ट्र का उद्धार कर सकें, उनकी विचार शक्ति से बाहर है। दोनों ही साम्प्रदायिक संस्थायें मध्यवर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों, और पद-लोलुपों की है। उनका कार्य क्षेत्र अपने समुदाय के लिये ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावहारिक प्रभुत्व जमा सकें। साधारण जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। अगर सरकार की किसी नीति से जनता को कुछ लाभ होने की आशा है और इन समुदायों को कुछ क्षति पहुंचने का भय है, तो वे तुरन्त उसका विरोध करने को तैयार हो जाएंगे। अगर और ज्यादा गहराई तक जायं, तो हमें इन संस्थाओं में अधिकांश ऐसे सज्जन मिलेंगे जिनका कोई-न-कोई निजी हित लगा हुआ है। और कुछ न सही तो हुक्काम के बंगलों पर उनकी रसाई ही सरल हो जाती है। एक विचित्र बात है कि इन सज्जनों की अफसरों की निगाह में बड़ी इज्जत है, इनकी वे बड़ी खातिर करते हैं। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे समझते हैं, ऐसों पर भी उनका प्रभुत्व टिका हुआ है। आपस में खूब लड़े जाओ, खूब एक दूसरे को नुकसान पहुंचाओ। उनके पास फरियाद ले जाओ, फिर उन्हें किसका गम है, वे अमर हैं। मजा यह है कि बाजों ने यह पाखण्ड फैलाना भी शुरू कर दिया है कि हिन्दू अपने बूते पर स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इतिहास से उसके उदाहरण भी दिए जाते हैं। इस तरह की गलत फहमियां फैलाकर इसके सिवा कि मुसलमानों में और ज्यादा बदगुमानी फैले और कोई नतीजा नहीं निकल सकता। अगर कोई जमाना था, जब मुसमानों के राजकाल में हिन्दुओं ने स्वाधीनता पाई थी, तो कोई ऐसा काल भी था, जब हिन्दुओं के जमाने में मुसलमानों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उन जमानों को भूल जाइये। वह मुबारक दिन होगा, जब हमारी पाठशालाओं से इतिहास उठा दिया जायगा। यह जमाना साम्प्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके, जिससे यह अंधविश्वास, यह धर्म के नाम पर किया गया पाखंड, यह नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके। जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है न जरूरत। 'संस्कृति' अमीरों का, पेटभरों का, बेफिक्रों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है। उस संस्कृति में था ही क्या, जिसकी वे रक्षा करें। जब जनता मूर्छित थी, तब उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था। ज्यों-ज्यों उसकी चेतना जागृत होती जाती है, वह देखने लगी है कि यह संस्कृति केवल लुटेरों की संस्कृति थी जो, राजा बनकर, विद्वान बनकर, जगत सेठ बनकर जनता को लूटती थी। उसे आज अपने जीवन की रक्षा की ज्यादा चिन्ता है, जो संस्कृति की रक्षा से कहीं आवश्यक है। उस पुरानी संस्कृति में उसके लिए मोह का कोई कारण नहीं है। और साम्प्रदायिकता उसकी आर्थिक समस्याओं की तरफ से आंखें बंद किए हुए ऐसे कार्यक्रम पर चल रही है, जिससे उसकी पराधीनता चिरस्थायी बनी रहेगी ।

15 जनवरी 1934

नौटंकी–एक साझी विरासत

■ आई.एस.डी.

भारतीय पारम्परिक थियेटर को दो मूल धाराओं में बांट कर देखा जा सकता हैः 'धार्मिक' और 'लौकिक'। नौटंकी एक धर्मनिरपेक्ष विधा है। ये इस बात से ज़ाहिर होता है कि ये हिन्दी भाषी प्रदेश में प्रचलित धार्मिक थियेटर 'रामलीला' और 'रासलीला' की तरह विशेष देवी-देवताओं की स्तुति और पूजा में नहीं की जाती और न ही इसका कोई वार्षिक प्रारूप है (जैसे दशहरा या कृष्णाष्टमी)। नौटंकी केवल मनोरंजन का माध्यम है इसमें स्फूर्तिपूर्ण नृत्य, ढोल पीटने की आवाज़ और पूरी आवाज़ में गीत गाना, ये सब अपने आप एक ऐसा वातावरण बना देता है जो कि न तो धार्मिकता और न ही नैतिकता पर ज़ोर देता है। नौटंकी रामायण या महाभारत से भी प्रेरित नहीं है और नौटंकी करने वाले किसी मंदिर या पूजा संस्थान से नहीं जुड़े होते।

नौटंकी की धर्मनिरपेक्षता इस बात से भी साबित होती है कि नौटंकी हिन्दी और उर्दू दोनों की सांस्कृतिक परम्परा से जुड़े विषयों का मंचन करती है जैसे 'लैला मजनू' और 'शीरी फरहाद' नौटंकी के सबसे मशहूर प्रेम प्रकरण हैं। मध्यपूर्व की कुछ कहानियां भी नौटंकी ने पूरी तरह अपनायीं हैं। मंचन के दौरान हिंदी और उर्दू दोनों का, दोनों भाषाओं की लय और ताल का इस्तेमाल नौटंकी के धर्मनिरपेक्ष साझी विरासत होने का एक और सबूत है। इसी तरह नौटंकी के ग्रुप में दोनों हिन्दू और मुसलमान होते हैं और दर्शकों में भी दोनों ही रहते हैं।

जहां तक कहानियों और विषयों का सवाल है वहां नौटंकी में दोनों समुदायों से संबंधित अर्ध-धार्मिक, नैतिकता और निष्ठा से जुड़े विषयों का समावेश होता है। मशहूर कहानियां जैसे 'राजा हरिश्चंद्र', साधु संतों की कहानियां : 'गोपीचंद', 'भतृरी', 'पूरन मल' और अन्य या फिर बलिदान वाली कहानियां जैसे 'प्रहलाद' और 'ध्रुव', इसके अलावा जादूई और चमत्कारिक कहानियां भी नौटंकी में खेली जाती हैं। नौटंकी में पंजाब के दलितों के पूज्य 'गोगा पीर' या 'ज़हार पीर' भी खेला जाता है। अक्सर नौटंकी की कम्पनियों में सभी समुदायों के लोग होते हैं, इनके विज्ञापन का ढंग भी अलग होता है : प्लेकार्ड्स, ढोल पीटना या पब्लिक में ऐलान करना। खेल की जगह अलग होती है और स्टेज रिहायशी तम्बुओं से थोड़ा दूर होता है। नौटंकी, इस तरह देखा जाए तो, पाश्चात्य थियेटर से प्रभावित शहरी थियेटर से बिलकुल अलग है। उसे देखने वाले आज भी किसान, मजदूर, खेतिहर, गरीब और दलित हैं मतलब सर्वहारा वर्ग जबकि शहरी थियेटर के दर्शक ज़्यादातर मध्यम वर्ग से आते हैं। नौटंकी के कलाकार उसी प्रदेश से आते हैं जहां वे खेलते हैं। ज़्यादातर कलाकार दलित जातियों से आते हैं पर सवर्ण भी होते हैं। इनमें भी ज़्यादातर कारीगर जातियों का प्राधान्य होता है। मिसाल के तौर पर हाथरस के कवि और गायक उस्ताद ईदारमन, चिरंजी लाल, गणेशीलाल और गोविन्दराम, रंगरेज जाति के यानी छीपी थे। कानपुर के श्रीकृष्ण खत्री पहलवान दर्ज़ी थे। बनारस के नौटंकी के ट्रुप (सत्तरवें दशक में) में ज़्यादातर मुसलमान कलाकार - डफली, भांड और चमार जाति से थे। लखनऊ के पंडित काकूजी जनेऊ धारण करते थे और अपने को ब्राह्मण कहते थे। वो हमेशा मुसलमान कलाकारों जैसे आशिक हुसैन और मलिका बेगम के साथ रहे और अभिनय छोड़ने के बाद ट्रुप के कपड़े सीने का काम करते रहे। नौटंकी में महिला कलाकार अक्सर दलित बैरिन या नटिनी जाति से होती हैं जो अक्सर नाच गाने और वैश्यावृति से जुड़ी होती हैं।

कुछ भारतीय विशेषज्ञों ने नौटंकी को लोक नाट्य विधा कहना शुरू कर दिया है। लेकिन यह गलत है। नौटंकी में व्यावसायिक कलाकार होते हैं। अक्सर उस गांव के नहीं होते जहां नौटंकी खेली जा रही होती है। चूंकि इसका त्योहारों से कोई संबंध नहीं होता इस तरह नौटंकी को पाप्यूलर थियेटर का नाम भी दिया जा सकता है।

आज के बाज़ारीकरण के दौर में नौटंकी को मास कल्चर (आम जन की संस्कृति) के रूप में भी देखा जा सकता है। आज नौटंकी - रिकार्डों, कैसेटों, फिल्मों और टीवी के माध्यम से सभी दर्शकों तक पहुंच रही है। नौटंकी ड्रामें अब किताबों के रूप में खरीदे जा सकते हैं। इस सबके बावजूद नौटंकी को आज एक ऐसी संगीत, विश्वासों, और सभी समुदायों के सांस्कृतिक धारा के रूप में देखा जा सकता है जो शहरी और ग्रामीण दर्शक के बीच संवाद और संबंध बनाने का काम करती है। नौटंकी ने कहानियों और कविताओं के माध्यम से शहरी और ग्रामीण, साक्षर और निरक्षर, हिन्दू और मुसलमान दर्शकों को एक दूसरे से जोड़ा है। चलता-फिरता ट्रुप अपने साथ गांव से आए कामगार के लिए गांव की ज़िन्दगी की खबर लाता है और इसी तरह

गांव को शहर के सामाजिक इतिहास से अवगत कराता है। इस नज़रिए से नौटंकी को अंतर्वती या मध्यमवर्ती (इन्टरमीडिएरी) थियेटर भी कहा जा सकता है। अगर संस्कृत नाटक परम्परा से देखा जाए तो नौटंकी को उपरूपक और संगीत कहा जा सकता है। जैसा कि हम बता चुके है कि जहां तक नौटंकी में विषयों का सवाल है तो नौटंकी ने अरबी और फारसी से प्रेम कहानियां, संस्कृत से महाकाव्य और पुराण, राजस्थान, पंजाब और उत्तर प्रदेश से लोक महाकाव्य, साधु सन्तों, राजाओं, स्थानीय नायकों, उपन्यास, ऐतिहासिक घटनाओं और अखबारों सभी से लिए हैं। ज़्यादातर नाटक शौर्य और प्रेम, और वर्तमान सामाजिक जीवन पर आधारित होते हैं। इन कहानियों को संगीतात्मक रूप दिया जाता है। नौटंकी में हिन्दी कविता पद्धति (दोहा और चौबोला) के साथ साथ प्रादेशिक लोकसंगीत विधाओं जैसे दादरा, ठुमरी, सावन, होली, मांड, लावणी आदि और उर्दू से ग़ज़ल, शेर और कव्वाली का इस्तेमाल किया जाता है। लय, ताल और तिहाई का ख्याल रखा जाता है। इस तरह नौटंकी एक ऐसी विधा है जिसने अपने आप में सभी कुछ आत्मसात कर लिया है और भविष्य में भी सभी धर्मनिरपेक्ष धाराओं को आत्मसात करने को तैयार है।

बीसवीं सदी से पहले आज का नौटंकी थियेटर 'स्वांग' के नाम से जाना जाता था। शब्द 'स्वांग' और उसका पयार्यवाची शब्द 'सांग' 'संगीत' शब्द से जुड़ा है जो पहले संगीतमय कथावाचन विधा के लिए जाना जाता था। 1920 के बाद 'स्वांग' शब्द की जगह नौटंकी ने ले ली। वैसे आज भी हाथरस-ब्रज प्रदेश में खेली जाने वाली 'नौटंकी' को 'स्वांग' के नाम से जाना जाता था।

'स्वांग' थियेटर की उत्पति उन्नीसवीं सदी के बीच से मानी जाती है। शुरू के ड्रामा 'प्रहलाद संगीत' और 'गोपीनाथ राजा के सांग' ने आगे आने वाले विषयों और छंद के बीज बोये जो हाथरस और कानपुर परम्परा में पूरी तरह प्रफुल्लित हुए। 'स्वांग' एक धर्मनिरपेक्ष और आम जनता के थियेटर के रूप में प्रस्थापित हुआ है हालांकि कुछ का मानना है कि इसकी जड़ में धार्मिक लीलाओं या फिर मध्यकालीन भारत की भक्तिमयता थी। लेकिन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वांग आम जनता के मनोरंजन की विधा के रूप में ही विकसित हुआ और अपने विकास में ये लोकनाट्य परम्पराओं और शहरी थियेटर की परम्पराओं से प्रभावित भी रहा।

उत्तर भारत में दो धार्मिक लीलाएं 'रामलीला' और 'रासलीला', धर्मनिरपेक्ष 'स्वांग' थियेटर से पहले प्रचलित थीं। 'रामलीला' तुलसीदास कृत रामचरितमानस और 'रासलीला' कृष्ण के प्रेम जीवन पर आधारित थी। जहां तक धार्मिक थियेटर की विधा का इतिहास है रामलीला के बारे में तो सभी जानते हैं पर कृष्ण थियेटर या रासलीला के बारे में कम ही जानते हैं। रासलीला कृष्ण संप्रदाय से जुड़ी है। कृष्ण संप्रदाय की तरह कृष्ण थियेटर का इतिहास 'वेदों' से भी पुराना माना गया है। प्राचीन भारतीय नाटक या 'संवाद' संस्कृत भाषा में नही बल्कि प्राकृत (संस्कृत की अपभ्रंश) में लिखे गये थे। यूँ तो कृष्ण थियेटर भारत के सभी प्रदेशों में पाया जाता है पर केरल, असम, गोमान्तक क्षेत्र, उत्तर भारत में प्रमुखतः पाया जाता है। कुछ प्रमुख **कृष्ण थियेटरों** के बारे में नीचे बताया जा रहा है :

कृष्ण आत्तम - कृष्ण गाथा आधारित ये बहुरंगी नाटक विधा सत्रहवीं सदी के मध्य में केरल में पैदा हुई। इसने प्राचीन कोडीयत्तम थियेटर और कत्थककली को बहुत प्रभावित किया। कृष्ण आत्तम आठ नाटकों की एक श्रृखंला है जो आठ रातों में खेले जाते हैं और कृष्ण की पूरी कहानी बताते हैं। ये नाट्यशैली कत्थककली से काफी मिलती-जुलती है। कवि जयदेव का **गीत-गोविन्द** एक संगीत ओपेरा भारत के कृष्ण थियेटर में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। जयदेव ने ये कविता-नाटक, नाटक विधा (गंधर्व कला) में निपुण वैष्णवों के लिये रची थी। ये एक भावना प्रधान प्रेम गाथा है। इसमें अध्यात्म भी निहित है। **रास-लीला** - कृष्ण का गोपियों के साथ पूर्णमाशी की रात के नाच को रास का नाम दिया गया है। लीला का अर्थ है ग्वाले कृष्ण के दैविक चमत्कारों का वर्णन। कृष्ण संप्रदाय में इस संगीत नृत्य का बहुत ही अनुष्ठानिक महत्व है। रास और भगवान कृष्ण की लीला की परम्परा बहुत पुरानी है। कला - छोटे, खूबसूरत और अपने नाटक और संगीत के लिये जाने जाने वाले गोमान्तक क्षेत्र में (सहयाद्री के पहाड़ों और अरब सागर के बीच स्थित), कृष्ण थियेटर की अनेक विधाएं प्राचीन काल से चली आ रही हैं और आज भी प्रचलित हैं। प्राचीन लोक-नाटक विधा '**कला**' ने कृष्ण थियेटर के बीज बोये जो बाद में दशावतार कला, गोपाल कला और गउलान कला के नाम से जाने गये। इस कला का कृष्ण मिथक के संदर्भ में काफी महत्व है। **अनकाई नट** - सोलहवीं सदी में असम में नव-वैष्णव वादी आंदोलन के दौरान जो कृष्ण नाटक उभरा उसे 'अनकाई नट' के नाम से जाना जाता है। ये संगीत-एकांकी कृष्ण गाथा को बयान करता है। साथ ही यह विधा पारम्परिक, क्लासिकल और लोक परम्परा का अद्‌भूत और सुन्दरतम मिश्रण है।

'**राम लीला**' बनारस प्रदेश में बड़े स्तर पर प्रचलित थी जबकि '**रासलीला**' ब्रज और वृंदावन-कृष्ण की जन्मभूमि में। इसके अलावा बहुत सी चलती फिरती नाटक मंडलियाँ 'रामलीला' और 'रासलीला' गांव-गांव जाकर खेला करती थीं।

इन 'लीला' मंडलियों ने गांवों में जन थियेटर का विकास किया और 'स्वांग' और 'नौटंकी' के बीज बोये। 'लीला' थियेटर, 'स्वांग' और 'नौटंकी' में बहुत सी समान परम्पराएं हैः खुले आसमान के नीचे (ओपन-एयर मंचन), संगीत, नृत्य और पौराणिक देवकथाओं का इस्तेमाल। इनमें विभिन्नताएं भी हैं। लीलाएं भगवान में आस्था और प्रेम बढ़ाने के उद्देश्य से की जाती हैं और अभिनेता, ज़्यादातर ब्राह्मण बच्चे, भगवान के रूप में पेश किये जाते हैं उधर 'स्वांग' और नौटंकी का उद्देश्य मनोरंजन करना, कामुकता जगाना और कभी-कभी डर जगाने तक होता है। 'लीला' एक पुजारी, किसी बड़े राजा या फिर आज किसी सोसायटी के आधिपत्य में खेली जाती है। 'नौटंकी' आज भी टिकट खरीद कर देखी जाती है। 'लीलाओं' की भाषा उच्च वर्ग की और साहित्यिक होती है जबकि 'नौटंकी' सबकी समझ में आने वाली रोजमर्रा और आम आदमी की भाषा में खेली जाती है। आइन-ए-अकबरी में अबुल फैजी ने नाट्यमंडली को 'भगतिया' का नाम दिया यानि जो बहुरूपिया बनकर गीत गाते हैं और नकल उतारने में माहिर होते हैं। मौलाना गनीमत की मसनवी नौरंग-ए-इश्क (1685) में भगतबाज़ों का जिक्र किया गया है। ये लोग बहुरूपिये होते हैं और संगीत वाद्यों को बजाते हैं। दूसरे इतिहासकारों के मुताबिक भांड, नकलची और नट सब प्रदेशों में पाये जाते थे।

'स्वांग' की पहली लिखित पांडूलिपी ब्रजभाषा में 1686-1689 के बीच रसरूप द्वारा लिखित 'हास्यनव' में पायी जाती है। अठाहरवीं सदी में सोमनाथ चतुर्वेदी द्वारा लिखित (1752) में 'माधव विनोद' है। 'प्रबोध चंद्रोदय' में भी कई ड्रामों का नाम है। ब्रज भाषा में ड्रामों और उन्नीसवीं सदी के 'स्वांग' में काफी विभिन्नताएं हैं : उनकी भाषा साहित्यिक ब्रज है, छंद में दोहा, चौपाई और सवाई का इस्तेमाल है और मंचन अक्सर राजदरबार में न कि आम जनता के सामने होता था। 'स्वांग' जन नाट्य विद्या है, आम जनता के सामने खेला जाता है। इसमें लौकिक, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक कविता का इस्तेमाल होता है जो नट और दूसरे कलाकार गाया करते थे।

ब्रज भाषा के ड्रामे में 'ख्याल' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जिसका मतलब भी ड्रामा होता है। 'ख्याल' शब्द तीन अर्थ बताता हैः सतरहवीं सदी से प्रचलित शास्त्रीय हिंदुस्तानी मौखिक विधा, मारवाड़ी और राजस्थान की दूसरी बोलियों में लिखा गया राजस्थान का लोकनाट्य और 'लावणी', हिंदुस्तानी लोक कविता जो उसी समय रची और गायी जाती है। 'ख्याल' का मतलब भी वैसे खेल यानी मनोरंजन यानी ड्रामा है। मतलब लोकनाट्य से जुड़ा है। सबसे पहले सोमनाथ चतुर्वेदी ने अपने 'माधव विनोद' में 'ख्याल' शब्द का इस्तेमाल किया। घोन्कल मिश्रा ने (1799) 'प्रबोध चंद्रोदय' में 'ख्याल' शब्द का इस्तेमाल किया। मतलब ये शब्द अठारहवीं सदी से प्रचलित है। राजस्थान में 'ख्याल' 1750 में शुरू हुआ। राजस्थान में ये होली के बाद रात में देर सुबह तक चबूतरों पर गांव-गांव जाकर और शहरों में खेला जाता है। राजपूताने की शौर्य और प्रेम गाथाएं इसका विषय होती है। प्रेमगाथाओं में 'ढोला मारू', 'पन्ना विरामद', 'सदाब्रत सलंगिया' और शौर्य गाथाओं में 'राणा रतन सिंह', और 'डूंगर सिंह' का नाम आता है। छिंदवाड़ा में 'शेखावती' और जोधपुर के आसपास 'कुचामन' परम्परा में 'ख्याल' खेला जाता है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि आगरा-भरतपुर प्रदेश 'ख्याल' की जन्मभूमि है और बाद में 'ख्याल' सारे उत्तर भारत में फैला। आज स्थिति यह है कि ये विधा आज हर प्रदेश की सांस्कृतिक और भाषाई पहचान से जुड़ गयी हैः राजस्थान में 'ख्याल', उत्तरप्रदेश में 'नौटंकी', हरियाणा में 'सांग' (स्वांग) और मध्य प्रदेश में 'मंच'। 'ख्याल' की काव्य परम्परा विभिन्न धर्मो के अनुयायीयों के बीच दार्शनिक बहस से जुड़ी है मतलब शास्त्रार्थ, समस्या पूर्ति और संगीतमय संवाद यानि सवाल-जवाब दूसरे शब्दों में 'तुर्रा-कलगी' परम्परा से बहस जुड़ी है। इस परम्परा में दो प्रतिस्पर्धी 'लावणी' या 'ख्याल' विधा में ढोलक और चाँग बजाते हुए एक दूसरे से सीधे सवाल जवाब करते हैं। 'तुर्रा' शैवाईटों से जुड़ा है और 'कलगी' शक्ति से। दोनों प्रतिस्पर्धी अखाड़ों में बंट जाते हैं और इस प्रतिस्पर्धा को 'दंगल' का नाम दिया जाता है। 'तुर्रा-कलगी' की विधा महाराष्ट्र में लोक कविता के रूप में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में प्रारम्भ हुई। इससे पहले धार्मिक शास्त्रार्थ को महाराष्ट्र में 'गोंधल' के नाम से जाना जाता था। दोनों विधाओं में शिव बनाम शक्ति, पुरुष बनाम प्रकृति, ब्रह्म बनाम माया, निर्गुण बनाम सगुण इनको लेकर शास्त्रार्थ होता था। 'गोंधल' और 'तुर्रा-कलगी' परम्परा दोनों बाद में महाराष्ट्र के लोकनाट्य 'तमाशा' का हिस्सा बन गयीं। 'तमाशे' में शिव और पार्वती के बीच 'लावणी' विधा में सवाल जवाब होते हैं। इसके बाद एक 'गाउलान' नाम का कामुक नृत्य होता है। 'तमाशे' में 'तुर्रा-कलगी' परम्परा का प्रभाव पाया जाता है। इसलिये इसमें 'झगड़ा' या सवाल-जवाब होते हैं। 'तमाशा' करने वाली मंडलियां अपने को 'तुर्रा' और 'कलगी' का नाम देती हैं। ऐसा माना जाता है कि 'तुर्रा-कलगी' मंडलियां अपनी 'लावणी' के साथ महाराष्ट्र से उत्तर भारत में मराठा सेना के साथ-साथ आयीं। 1910 में ये सहारनपुर (उ.प्र.) में पायी गयी। म. प्र. में ये 'मंच' या मच, चितौड़ और घोसुन्डा (राजस्थान) में 'ख्याल' से जुड़ गयीं। बंगाल में इसी तरह के ड्रामों को 'कबि' या 'कवि' कहा गया है। 'कबि' शिव, शक्ति

और कृष्ण या दूसरे मिथकों को लेकर दो मंडलियों के बीच गाया जाता है। बाद में ये 'जात्रा' का हिस्सा बन गया।

लोक नाटक 'स्वांग' ने भी 'तुर्रा-कलगी' परम्परा को अपने में जोड़ लिया। प्रतिस्पर्धी अपने को तुर्रा-कलगी का नाम देने लगे। सवाल जवाब के अलावा तुर्रा-कलगी की एक और विरासत है जो 'स्वांग', 'भगत', 'ख्याल' और 'मंच' में पायी जाती है और वो है 'लावणी'। गैर ड्रामा हिन्दी कविता में उन्नीसवीं सदी के उतरार्ध में 'लावणी' का बहुत प्रभाव देखा गया। हिन्दु-मुस्लिम दोनों कवियों ने कृष्ण और इस्लामिक विषयों पर 'लावणी' लिखी। मिसाल के तौर आशिक और माशूक के बीच इश्क और प्रेम। लखनऊ में उन्नीसवीं सदी में 'लावणी' लिखने वाले कई कवि थे। साफ ज़ाहिर है 'लावणी' कविता की परम्परा उत्तर भारत की लोक नाट्य परम्परा का एक हिस्सा बन गयी।

'स्वांग' में खेली गयी कहानियों खासकर 'गोपीचंद' और 'पूरनमल' में पंजाब के गुरु गोरखनाथ के अनुयायीयों यानि 'नाथ योगियों' का बहुत बड़ा योगदान रहा है। 'नाथयोगी' संसार का त्याग, जादूई, तांत्रिक और अध्यात्म में विश्वास रखते थे। नाथयोगी, 'नाथ' योगी या जोगी के नाम से जाने जाते थे। ये लोग गोपीचंद को चौरासी सिद्दों में से एक सिद्ध मानते हैं। गांवों में नाथ योगी, ज़र्रा, हकीम, जादूगर और चमत्कारिक विद्या में निपुण जाने जाते थे। नाथ योगियों के तीर्थ स्थल बलूचिस्तान में हिंगलाज से गुजरात में घिनोघर, पंजाब में तिल्ला, महाराष्ट्र, नेपाल और बंगाल में पाये जाते हैं। नाथयोगी अक्सर भिखारी जाति से आते थे। बनारस में ये 'भतृरी', मेरठ में 'गोगा' गाने वालों के नाम से जाने जाते हैं। 'स्वांग' में 'राजा गोपीचंद', 'गुरु गोगा', 'सिला दाई', और 'राजा नल' गाये जाते हैं। इस तरह उत्तर भारत में धर्म निरपेक्ष थियेटर का विकास पंद्रहवीं सदी से शुरू हुआ माना जा सकता है।

नवाब वाजिदअली शाह थियेटर के बड़े शौकिन थे। वो खुद 'रासलीला' में हिस्सा लिया करते थे। उन्होंने एक नाटक 'राधा कन्हैया का किस्सा' भी लिखा था जिसे 1843 में हुज़ूरबाग में खेला गया था। इसके अलावा उन्होंने शास्त्रीय नृत्य 'कत्थक' और अर्धशास्त्रीय संगीत 'ठुमरी' को बढ़ावा दिया। वाजिद अली के ज़माने में ही आगा हसन अमानत का पाश्चात्य ओपेरा पर आधारित नाटक 'इंद्रसभा' लखनऊ में खेला गया। 'इंद्रसभा' ने उत्तर भारत में लोक नाटक के नये आयाम कायम किये। इस नाटक में दोनों हिंदू-मुस्लिम कथानक, छंद और हिन्दी उर्दू भाषा दिखाई पड़ते हैं। इसमें कथा कथन, कविता, संगीत और नृत्य सभी मिल जाते हैं। इस तरह 'इंद्रसभा' एक हिंदू-मुस्लिम यानि धर्मनिरपेक्ष थियेटर की गर्वीली मिसाल बना। 'इंद्रसभा' के बाद से 'स्वांग' थियेटर में इस्लामिक प्रभाव भी नज़र आने लगाः स्टेज पर महलों के दरवाजे, पेंट किये हुए पर्दे, दरबारी माहौल मतलब नवाबी पहनावा, तुर्की टोपी और जेवर। उर्दू का चलन भी बढ़ा। 'बेटा जी' और 'प्यारे जी' जैसे संबोधनों की जगह 'लख्ते जिगर' और 'जानेमन' जैसे संबोधनों ने ले ली। 'स्वांग' में अब उर्दू कहानियां जैसे 'सियाहपोश', 'बेनज़ीर', 'बदर-ए-मुनीर' और 'लैला मजनूं' भी आ गयीं। 'कत्थक', 'ठुमरी' और 'गज़ल' भी लोक-मनोरंजन का हिस्सा बन गये। साथ ही लोक गीत - 'होली', 'बसन्त', 'दादरा', 'सावन' और 'बिहाग' भी 'स्वांग' में शामिल हो गये। हाथरस परम्परा में ये सब सबसे ज़्यादा देखने को मिलता है। अगर एक तरफ 'स्वांग' या 'नौटंकी' अपने विकास में धर्म-निरपेक्षता और लोक मनोरंजन के स्रोत बन रहे थे, तो दूसरी तरफ हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के संगमस्थल भी बन रहे थे, उर्दू हिन्दी दोनों भाषाओं को अपने में समा रहे थे, प्रादेशिक विधाओं से परस्पर प्रभावित हो रहे थे, तो दूसरी तरफ पारसी थियेटर की कुछ परम्पराओं को भी अपना रहे थे। हम जानते हैं पारसी थियेटर की शुरुआत अंगरेजों की देन है और ये यूरोपीय थियेटर से प्रभावित था। इसमें हिन्दी और उर्दू दोनों का इस्तेमाल होता था इसके अलावा प्रादेशिक भाषाओं गुजराती, बंगला और मराठी का भी इस्तेमाल किया जाता था। 'राजा हरिश्चन्द्र', 'प्रहलाद', 'नल दमयंती', 'सावित्री' और 'शकुन्तला' पारसी थियेटर में आम खेले जाते थे। इसी तरह 'शीरी फरहाद', 'लैला मजनूं', 'बेनज़ीर', 'बद्र-ए-मुनीर' और 'गुल बकावली' भी। जहां तक अंग्रेजी भाषा से थियेटर का सवाल है उनमें शेक्सपीयर सबसे प्रसिद्ध थे। कानपुर 'नौटंकी' परम्परा में पारसी थियेटर का सबसे ज़्यादा प्रभाव नज़र आता है।

इस तरह हम देखते हैं कि उत्तर भारत खासकर कानपुर, हाथरस और ब्रज की 'नौटंकी' या 'स्वांग' लोक मनोरंजन की ये धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक लोक नाट्य विधा विभिन्न आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों में अपने-अपने प्रदेश में जैसे राजस्थान में 'ख्याल', मध्य प्रदेश में 'मंच', बंगाल में 'जात्र', महाराष्ट्र में 'तमाशा' और गुजरात में 'मवाई' का नाम लिये विभिन्न प्रभावों को आत्मसात करती हुई अपनी मौलिकता और प्रादेशिक पहचान बनाये हुए हैं और साझी विरासत की जीवन्त मिसाल है। साथ ही यह धर्मनिरपेक्ष और लोकाभिमुख मनोरंजन की विधा जन सांस्कृतिक उत्थान का स्रोत और संप्रेषण का माध्यम भी बनी हुई है। इस साझी विरासत को हमें महफूज़ ही नहीं रखना है बल्कि आगे भी बढ़ाना है।

विष्णु और अल्लाह के सहस्त्र नाम

अल्लाह का मतलब है 'अल-अहद' या 'एक'। विष्णु को भी 'एक' कहा जाता है। यह विचित्र है लेकिन विष्णु और अल्लाह के नामों में आश्चर्यजनक समानताएं हैं।

'महाभारत' में सम्मिलित वेद व्यास द्वारा रचित 'विष्णु सहस्त्रनामा' (विष्णु के सहस्त्र नाम) में सहस्त्र का तात्पर्य किसी सीमित संख्या से नहीं है बल्कि उसके बिल्कुल उलट है। 'विष्णु सहस्त्रनामा' में 'सहस्त्र' का मतलब 'असीमितता' से है। यह कविता (विष्णु सहस्त्रनामा) ईश्वर का ध्यान करने का एक साधन है। वह ईश्वर जो 'अव्यक्त' है, वह ईश्वर जो 'अनेकामूर्ति' है। इन दोनों विपरीत दृष्टिकोणों (अव्यक्त और अनेकामूर्ति) को ज़ाहिर करने वाले नाम इस कविता में एक के बाद एक आए हैं–पहले नाम फिर प्रतिनाम। क्योंकि मक़सद नामों को परिभाषित करना नहीं है बल्कि परिभाषाओं के जंजाल द्वारा परिभाषा की व्यर्थता को बताना है। सहस्त्रनामा में विष्णु के जो नाम दिए गए हैं वे सभी नाम संज्ञा नहीं हैं बल्कि वे ज़्यादातर विशेषण हैं। ये सभी ईश्वर के गुण हैं जिन्हें एक ध्वनि या संकेत की रचना के लिए दिया गया है जिससे ये ज़ाहिर हो कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान है और अस्तित्व की परिभाषा से परे है।

प्रतिनाम नाम को खारिज नहीं करते हैं, बल्कि प्रत्येक प्रतिनाम, प्रत्येक मूर्ति भी समान रूप से सही और गलत है : यह 'इति' भी है और 'नेती' भी है। इसलिए इन सभी नामों को जोड़कर एक बीजगणितीय 'अंत' (एल्जेबरिक फाइनेलिटी) का ख्याल बिल्कुल व्यर्थ है। विष्णु के सहस्त्र नामों में 'शून्य' और 'अनंत' भी हैं। सत्य की खोज का अभियान, जैसा कि स्वामी विवेकानंद ने कहा है, असत्य से सत्य की ओर नहीं होता बल्कि एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर तब तक होता है जब तक वह 'वेदांत' तक, सत्य और परम हर्ष की चेतना तक, नहीं पहुंच जाता। इसे सत्-चित्-आनंद कहते हैं : सत्य-चेतना-परम हर्ष की अवस्था। यही ईश्वरत्व है। वह व्यक्ति जो इसे पा लेता है परिभाषित नहीं कर सकता-वह केवल इसकी ओर संकेत कर सकता है या सहस्त्रनामा के द्वारा बता सकता है।

'*द ग्रेशियस नेम्स ऑफ अल्लाह*' अल्लाह के विभिन्न नामों को सूचीबद्ध करता है जो कुरान में आए हैं। यह बहुत रोचक है कि अल्लाह के नाम और 'विष्णु सहस्त्रनामा' में विष्णु के नामों में समानता है। परमात्मा की तरह अल्लाह 'अल अहद' यानि 'एक' है। वह 'अल-कुदस' (पवित्रम) है, 'अर-रहमान' (वरदाय), 'अल-मलिक' (प्रभु), 'अल-अज़ीज़' (महावीर), 'अल-अलीम' (सर्वज्ञ) है। वह 'अल-ख़लीक' (स्रष्टा) और 'अल-मुसव्वीर' (विश्वकर्मा) है। वह 'अल-हकम' (विधात्रे) है जो 'अल-अद्ल' (न्याय), 'अल-लतीफ' (सूक्ष्म), 'अल-कबीर' (महान) है।

अल्लाह 'अल-मतीन' (स्थिर) भी है और 'अस-समद' (अच्युत, स्थवर) है। वह 'अद-दार' (भयक्रत) के रूप में दुख और 'अल-मुमीत' (यम) के रूप में मृत्यु देता है। वह स्वयं ही 'अल-मुहाइमन' (रक्षक) है। अल्लाह 'अन-नूर' (प्रकाश) है और 'अल-हकीम' (महाबुद्धि) है। वह 'अन-नफी' (मंगल) है। वह 'धुल-जलाल-इक्रम' (श्रीनिधि) है। जिस तरह विष्णु के प्रतिनाम हैं उसी तरह अल्लाह के भी प्रतिनाम हैं। उदाहरण के लिए अल्लाह 'अल-मुकद्दिम' (निर्विघ्न) है और वही 'अल-मुहाख़िर' (विलंबक) भी है।

इन सभी नामों का पाठ का क्या महत्व है? सहस्त्रनामा मोक्ष दिलाता है : चिन्तन में सभी तत्वों और अतत्वों को जोड़ देता है। अगर सब कुछ एक ही है तो द्वेष के लिए जगह ही कहां है? विष्णु सहस्त्रनामा की फलश्रुति भक्त को क्रोध, द्वेष, लालच और बुरे ख़्यालों से मुक्त करता है। भक्त जन्म-मृत्यु- जर-व्याधि के विचारों से मुक्त हो जाता है। ये सभी सकारात्मक सोच के चरम रूप हैं। इसी तरह अल्लाह का नाम जपने से भी भक्त को चिर-शक्ति प्राप्त होती है।

साभार - 'द थाउज़न्डस नेम ऑफ विष्णु एण्ड अल्लाह', के. एस. राम, टाइम्स ऑफ इंडिया, 13 अगस्त 2004

अनुवाद - कुसुम लता

लोकसाहित्य में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा (आल्हा-ऊदल)

■ बाबूलाल दहिया

वर्तमान विकास की धारा ने जहाँ आदमी के शारीरिक श्रम को घटाया है वहीं उसने आदमी को मानसिक स्तर पर भी काफी एकाकी बना दिया है। आज प्रत्येक व्यक्ति बाज़ार से सारी सुख-सुविधाओं को पैसों के ज़रिये खरीद सकता है इसलिए वो दिन-रात पैसे एकत्र करने की धुन में रहता है। आज यदि हमें संगीत का आनन्द लेना है तो उसे भी हम बाज़ार से खरीदकर अपने घर में ही टेपरिकॉर्डर, सीडी वगैरह लाकर सुन सकते हैं। परन्तु इन्टरनेट के द्वारा आज दुनिया इतनी सिमट गयी है कि यदि ये आपके पास उपलब्ध है तो आपको इधर-उधर कहीं जाने या किसी से मिलने की जरूरत नहीं है। आप इन्टरनेट पर ही सारे तरह के संगीत का आनन्द ले सकते हैं। परन्तु विकास की इस दौड़ ने हमसे हमारी साझी विरासतों को छीन लिया है। ये साझी विरासतें हमें सिखाती थी मानवीय मूल्य, धर्मनिरपेक्षता, विविधता में एकता। साझी विरासतों का एक पक्ष हमारा लोकसंगीत (गायन) भी है। प्रत्येक क्षेत्र का लोकसंगीत वहाँ की जीवन शैली के अनुरूप ही रचा जाता है। लोक संगीत की कई विधायें वहाँ के आम जनमानस में प्रचलित होती हैं। ये संगीत वहाँ की एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से सुनकर सीख लेती है। जिसमें नई पीढ़ी के लिए संदेश भी होता है जिन्हें वे बिना किसी दबाव के ग्रहण करके अपने जीवन में उतारते जाते थे।

आल्हा गायकी भी इसी तरह बुन्देली गायन की एक लोक विधा है क्योंकि वीर छन्द आल्हा राशों के प्रथम रचनाकार जगनिक भाट बुन्देलखण्ड आंचल के टीकमगढ़ जिले में पैदा हुए थे। लगभग 600 वर्षो तक लोक कंठ में बसकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी मुखर होने वाला यह वीर काव्य अन्य क्षेत्रीय बोलियों में भी अनुदित होता रहा। आज से 50-60 साल पहले राजा-सामन्तों के दरबार से लेकर झोंपड़ी तक आल्हा के गीत की तान बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड के गांव-गांव में सुनाई पड़ती थी। सावन-भादों वर्षा की झड़ी के समय यह गीत चौपालों में अक्सर गाया जाता था। समाज में इसका इतना प्रभाव था कि उस समय अधिकांश लोग अपने लड़कों का नाम आल्हा राशो के पात्रों से जोड़कर ही आल्हा, ऊदल, इंदल, मलखान, लाखन तथा पृथ्वीराज आदि रखते थे।

बुन्देलखण्ड में जन्मे जगनिक भाट का आल्हा राशो इस तरह का जन इतिहास है, जो लगभग छः सौ वर्षों तक लोक कंठ में पीढ़ी दर पीढ़ी बसता अनेक बोलियों में अनूदित होता रहा। आल्हा राशो के मुख्य पात्र आल्हा, ऊदल, मलखान, ब्रह्म जैसे राजपूत आमत्य हैं तो राजपूत इतर, ढेबा ब्राह्मण, खुन खुन कोरी, धनुहा तेली, लला तामोली, मदन गडरिया, मन्ना गूजर और रूपना बारी आदि भी। उसमें एक पात्र ताल्हन सैयद है, जो बनारस के सरदार और आल्हा, ऊदल, मलखान के पिता दस्यराज बस्यराज के मित्र भी हैं। इसलिये वे आल्हा, ऊदल, मलखान के पिता तुल्य चाचा तथा संरक्षक भी हैं। तभी तो जगनिक भाट बार-बार ऊदल के मुंह से यह बात कहलवाता रहता है कि-

चाचा, चाचा कहि गोहरायो, चाचा मोरे तलंसी राय।
बारे मर गये बाप हमारे, गोद तुम्हारी गये बैठाय।।

जिसका उत्तर ताल्हन सैयद यह कहकर देते हैं कि-

जहां पसीना गिरे आल्हा का, सैयद दे हैं खून बहाय।

फिर चाहे नैनागढ़, पथरीगढ़, माड़ौ अथवा बामन लड़ाइयों का कोई भी गढ़ हो, हर युद्ध में ताल्हन सैयद अपने सातों बेटों के साथ मौजूद हैं। जहां कहीं किसी राजा के सैन्यबल का भेद लेना हो या उन राजकुमारियों को सांत्वना देना हो जो अपने तोते को दूत बनाकर राजकुमारों की वीरता से मुग्ध होकर यह संदेशा भिजवा चुकी है कि 'या तो ब्याह होय महुबे में या जीवन भर रहों कुमारि', वहां भी सैयद आल्हा ऊदल, मलखान, ढेवा आदि के साथ जोगी के भेष में मौजूद हैं और वरिष्ठ होने के कारण जोगियों के महंत भी हैं। कुछ जगह तो राजकुमारियां जब उनको गंगा की सौगंध खिलाती हैं कि वे उन्हें ब्याहने आयेंगे तो गंगाजल उठाकर ताल्हन सैयद ही उस राजकुमार की ओर से उनसे वायदा करते हैं कि उन्हें वे ब्याहकर अवश्य महोबा ले जायेंगे।

बाकी राशो ग्रन्थों के रचनाकार अपने नायकों को सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, अग्निवंशी आदि श्रेष्ठ कुल का सिद्ध करके उसे महिमा मंडित करते हैं, इसके विपरीत जगनिक भाट बार-बार अपने नायकों को **'ओछी जाति बनाफर राय'** कहता है। ओछी जाति के होने के कारण न तो श्रेष्ठ कुल के राजपूत उनके साथ चल सकते हैं और न ही कोई राजा अपनी लड़की को खुशी से ब्याह सकता। यह अलग बात है कि कोई राजकुमारी उनकी वीरता से मुग्ध होकर उन्हें मन ही मन वरण कर ले, पर जब

ब्याहने जायेंगे तो श्रेष्ठ कुल के क्षत्रिय तो जाने से रहे, उनके साथ खुन खुन कोरी, धनुहा तेली, मदन गड़रिया, मन्ना गूजर जैसे गैर क्षत्रिय ही बाराती होगें। ढेबा ब्राह्मण जैसे पंडित होंगे जिनके मुंह में वेदमंत्र और बगल में ढाल तलवार बंधी होगी। रूपन बारी जैसे नाई-बारी होंगे जो विवाह की रस्म भी अदा करते जायें और क्रोध से जला-भुना राजकुमार अपनी बहन की ओछी जाति के साथ ब्याह होता देख यदि तलवार खींच ले तो अपनी तथा साथी दूल्हे की रक्षा भी कर सकें।

विवाह में एक रस्म होती है समधी से समधी की भेंट, आल्हा, ऊदल और मलखान के पिता उनके बाल्यावस्था में ही वीरगति प्राप्त कर चुके थे। चन्देल राजा परिमर्दि देव के लिये यह अपमान की बात थी कि अपने आमत्य के विवाह में समधी बन कर खड़े हों, पर सिर में राजपूती पगड़ी बांध वर पक्ष के समधी की भूमिका के लिए सैयद हर विवाह में मौजूद हैं क्योंकि सलाहकार, संरक्षक और पिता की भूमिका अदा करने वाला ताल्हन सैयद की तरह दूसरा है ही कौन ?

आल्हा एक वीर काव्य है, जिसमें अन्य काव्य ग्रन्थों की तरह कल्पना तत्व का होना स्वाभाविक था। उसने समाज को अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वास भी दिये, पर इसके बावजूद भी उसमें धर्मनिरपेक्षता के तत्व मौजूद हैं, जिसके आदर्श पात्र **'ताल्हन सैयद'** हैं। आज जिस तरह देश में साम्प्रदायिक शक्तियां सिर उठा रही हैं, हमारी साझी विरासतें जो हमें सदियों से भाईचारे व एकता के सूत्र में बांधती आई हैं उन्हें जिस प्रकार चिन्हित कर के चुन-चुन कर नष्ट किया जा रहा है तथा कुछ राज्यों में तो उन विघटनकारी शक्तियों को सरकारी संरक्षण भी मिल रहा है, ये गहन चिन्ता की बात है। इसलिए समय की आवश्यकता है कि ऐसे ग्रन्थों का पुनः अनुशीलन हो जो समाज को तोड़ने के बजाय जोड़ने का काम करते हों। कहना न होगा कि जगनिक का आल्हा राशो ऐसा ही ग्रन्थ है और उसके आदर्श पात्र ताल्हन सैयद कुछ इसी तरह के पात्र हैं जो हमारे आज के लोकतंत्रीय धर्मनिरपेक्ष समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। आल्हा ऊदल का ताल्हन सैयद बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड लोक साहित्य में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा को सुदृढ़ करता नज़र आता है।

बुद्ध और हंस

*मेरा जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। मेरे पिता महाराजा शुद्धोदन ने तमाम सुविधाओं और ऐश्वर्य के साधनों के साथ मेरा लालन-पालन किया। एक दिन मैं बगीचे में टहल रहा था। तभी एक सफेद हंस आसमान से मेरे पैरों पर आ गिरा। हंस के पंखों में एक तीर बिंधा हुआ था। वह बड़ी मुश्किल से सांस ले पा रहा था। उसकी आंखों में आंसू थे और वह पर फड़फड़ाने की बार-बार कोशिश कर रहा था। मेरा हृदय दया के भाव से भर गया। मैंने उसे अपनी गोद में लिया और बड़ी एहतियात से उसका तीर निकाल दिया। जब मैं उसे मरहम पट्टी के लिए ले जाने लगा तभी मेरा चचेरा भाई देवदत्त वहां आ धमका। उसने कहा : "हंस को मैंने तीर मारा है। शिकार उसी का होता है जो शिकार करता है। यह हंस मुझे दे दो।" मैंने उसे कहा : "हंस मेरे सामने आकर गिरा था। मैं तब तक उसकी देखभाल करुंगा जब तक उसके घाव नहीं भर जाते ताकि वह दोबारा उड़ने लगे।" देवदत्त बहुत गुस्सा हुआ। उसने महाराज से जाकर शिकायत लगा दी कि मैंने उसका हंस चुराया है। महाराज ने हम दोनों को बुला भेजा। मैंने पूरी कहानी उन्हें बताई। महाराज ने कहा : **"जो जीवन की रक्षा करता है वह जीवन को नष्ट करने वाले से ज्यादा बड़ा होता है।** इसलिए हंस तुम्हारे पास ही रहेगा।" यहां उपस्थित सभी सदात्माओं को ये कहानी सदा याद रखनी चाहिए। किसी का खून मत बहाओ। जिंदगी को नष्ट मत करो। अपने बड़ों का मान करो और दासों का दमन न करो। **अच्छा आचरण किसी भी बलिदान से बड़ा है।** इतने ऐश्वर्य में मत रहो कि अपने दोस्तों और प्रकृति के साथ अपनेपन का अहसास भी तुम्हारी आत्मा से चला जाए। परंतु खाना-पीना छोड़कर और जरूरत से ज्यादा परिश्रम करके अपनी देह को अनावश्यक दंड भी मत दो। मध्य मार्ग पर ही चलो।*

साझी विरासत क्या है : यह कैसे बनती है

■ आई.एस.डी.

कई बार आपने देखा होगा कि जब कभी भी ऐतिहासिक और मौजूदा समय और परिवेश के लिहाज से संस्कृति की चर्चा की जाती है तो परंपरा, विरासत और रिवाज़ जैसे शब्द अकसर चर्चा में आ जाते हैं। इन शब्दों का मतलब क्या है? और संस्कृति से हमारा क्या मतलब है? साझा विरासत के साथ संस्कृति का क्या संबंध है? क्या हर संस्कृति बुनियादी तौर पर साझा होती है या कोई ऐसी संस्कृति भी होती है जिसे हम गैर-साझी सांस्कृतिक विरासत कह सकें? संस्कृति हमें विरासत में कैसे मिलती है?

विरासत का मतलब होता है कोई चीज विरसे में पाना। विरासत और उत्तराधिकार (कानूनी शब्द, जिसका आशय विरासत में धन या संपत्ति पाने से होता है) जैसे शब्द हमें अतीत का अहसास कराते हैं। इसके साथ ही ये शब्द इस बात का भी बोध कराते हैं कि हमारे अतीत का कुछ हिस्सा या पूरा का पूरा अतीत आज भी हमारे साथ है, हमारे पास मौजूद है। जब हम सांस्कृतिक विरासत की बात करते हैं तो आमतौर पर हम अतीत की संस्कृति के उन पहलुओं का ज़िक्र कर रहे होते हैं जो या तो हमारे पास फिलहाल मौजूद हैं या जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। संस्कृति के यही पहलू हमारी संपत्ति और हमारे संसाधन हैं। साझे का आशय एक विशेष किस्म की संस्कृति से है जो मिलीजुली है, परंतु विखंडित नहीं है। कोई संस्कृति साझी या पृथक (या विखंडित या गैर-साझी) भी हो सकती है। कुल मिलाकर ध्यान देने वाली बात यह है कि समग्रता में कोई भी संस्कृति न तो पूरी तरह साझा होती है और न ही पूरी तरह गैर-साझा। हर संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो दूसरी संस्कृतियों से मिलते-जुलते होते हैं, जिन्हें हम साझा सांस्कृतिक तत्व कह सकते हैं, जबकि उसके कुछ तत्व उसकी अपनी खासियत होते हैं, जो प्रायः औरों में नहीं पाए जाते।

संस्कृति को व्यवहारों और तौर-तरीकों के एक ऐसे समुच्चय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हमारा ज्ञान, हमारी मूल्य-मान्यताएं और नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज, जीवनशैली और ऐसी सभी क्षमताएं और आदतें शामिल होती हैं जो हमें समाज का हिस्सा होने के नाते मिलती हैं। किसी खास समाज की संस्कृति को समझने का एक तरीका यह भी है कि हम उसकी **जीवनशैली** (आहार, वेशभूषा, बोली, रीति-रिवाज आदि), **सांस्कृतिक उत्पादों** (कला एवं शिल्प, संगीत, नृत्य, सौंदर्यशास्त्र आदि) और **नैतिकता** (नीतिशास्त्रीय अवधारणाएं, आदर्श, अच्छे और बुरे की समझ, अपेक्षित और अनपेक्षित आदि) -- इन तीन अवधारणाओं का अध्ययन करें। ये तीनों चीजें उस जटिल समुच्चय का अभिन्न हिस्सा हैं जिसे संस्कृति कहा जाता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इन तीनों चीजों को मनुष्य तभी व्यवहार में ला सकते हैं जब वह किसी समाज के सदस्य हों। समाज के बिना, अकेले रहने पर उनकी क्षमता सीमित हो जाती है। इसीलिए, हम कह सकते हैं कि संस्कृति किसी की व्यक्तिगत नहीं बल्कि एक पूरे समूह या समाज की परिघटना होती है। जब हम एक साझा संस्कृति की बात करते हैं तो हमारा आशय इस बात से होता है कि संस्कृति के उपरोक्त सभी पहलुओं में एक साझापन मौजूद था और वह अभी भी कायम है।

भारतीय संस्कृति की साझा विरासत हमारे इतिहास और हमारे हालात की एक अनूठी उपज है। हमें यह विरासत इतिहास की एक लंबी निरंतरता के ज़रिए हासिल हुई है। इस विरासत को 'सत्ता के मूल्यों' और 'मानवीय मूल्यों', इन दोनों पदों के ज़रिए समझना चाहिए। कहने का मतलब यह कि इस विरासत को यह खास शक्ल देने में हमारे आम लोगों और शासकों, दोनों ने अपने-अपने हिस्से का योगदान दिया है। इस विरासत का एक अहम पहलू उसका समन्वयी और बहुलवादी स्वरूप रहा है। भारत की साझा विरासत के इन आयामों को कुछ ऐसे प्रतीकों की मदद से और अच्छी तरह समझा जा सकता है जो *भारत* कही जाने वाली इस इकाई के सार को उजागर करते हैं। इस लिहाज से किसी देश या भौगोलिक इलाके का नाम भी ऐसा ही एक अहम प्रतीक हो सकता है। कोई भी देश अपना नाम या तो वहां रहने वाले लोगों के नाम से ग्रहण करता है या उसका नाम किसी महत्वपूर्ण भौतिक आयाम पर आधारित होता है।

1. इंडिया : यह शब्द सिंधु नदी (संस्कृत में *सिंधु,* पुराना ईरानी *हिंदु,* ग्रीक *इंडोस,* और प्राचीन ईरानी *हप्ता हिंदावो,* जो संस्कृत के *सप्त सिंधवा* अर्थात सात नदियों से मिलता-जुलता है) से लिया गया है। शुरू में सिंधु नदी (जो अब पाकिस्तान में है) के दक्षिण में पड़ने वाले इलाके को इसी नाम से जाना जाता था। धीरे-धीरे यह नाम सिंध (पाकिस्तान का एक प्रांत) के इलाके से बहुत दूर तक फैल गया। पश्चिम, मुख्य रूप से ग्रीक और लैटिन समाजों में इंडिया नाम 2,000 साल से भी पहले प्रचलित हो चुका था। इस विवरण से पता चलता है कि इंडिया शब्द इस उपमहाद्वीप के सभी समाजों की एक महान विरासत

का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक सकारात्मक नाम है और इस इलाके और यहां के लोगों की भौगोलिक, सांस्कृतिक और भौतिक पहचान का एक स्पष्ट प्रतीक है। पिछले 2,000 सालों से इंडिया नाम को इंसानियत के बहुत बड़े तबके की चेतना में एक अनूठी जगह और पहचान मिल चुकी है।

2. भारत या भारतवर्ष : यह नाम इस इलाके के कुछ हिस्सों में बसने वाले समुदाय के नाम पर आधारित है। भारत शब्द ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी (1500 ई. पू. के आसपास) में यहां आए भारतीय-आर्य समुदाय के एक महत्वपूर्ण हिस्से का नाम था। भारतवर्ष (यानी जहां भारत नामक समुदाय रहता है या केवल भारत) नाम कम से कम 2,500 साल पहले तक केवल उत्तर-पश्चिमी भारत के एक खास हिस्से के लिए इस्तेमाल किया जाता था मगर बाद में यह भी एक बहुत बड़े भौगोलिक इलाके तक फैल गया। महाभारत महाकाव्य में यह नाम इस समूचे क्षेत्र के लिए इस्तेमाल होता हुआ दिखाई देता है।

3. जम्बू द्वीप : जम्बू शब्द का मतलब होता है जामुन (जामुन का पेड़ या फल, दोनों) और जम्बू द्वीप का आशय संभवतः किसी ऐसे द्वीप से रहा होगा जहां जामुन के पेड़ बहुतायत में पाए जाते थे। यह नाम भारत को उसके एक विख्यात शासक, सम्राट अशोक (तीसरी शताब्दी ई. पू. के आसपास) ने दिया था। उन्होंने इस क्षेत्र की एक नई पहचान कायम की। यह पहचान इस इलाके की सीमाओं या यहां के लोगों के किसी गुण पर नहीं बल्कि यहां की आबोहवा और पर्यावरण पर आधारित थी।

4. आर्यावर्त : इस नाम का शाब्दिक अर्थ होता है आर्यों की भूमि। यह नाम इस देश पर विजय प्राप्त करने वाले आर्यों ने दिया था। यह नाम खासतौर से हिमालय और विंध्य पर्वत श्रृंखलाओं के बीच स्थित इलाके के लिए इस्तेमाल किया जाता था क्योंकि इस इलाके की भाषा पर आर्य संस्कृति का प्रभाव काफी गहरा था।

5. हिंद या हिंदुस्तान : यह नाम शुरुआती मुस्लिम शासकों ने दिया था। क्षेत्रफल के लिहाज से हिंदुस्तान भी वही था जो आर्यावर्त था। यानी हिंदुस्तान भी मध्यभूमि के इलाके को ही कहा जाता था। बाद में धीरे-धीरे समूचे क्षेत्र को इसी नाम से जाना जाने लगा।

इतिहास के अलग-अलग चरणों में हमारे देश को मिले अलग-अलग नाम इस देश के इतिहास की जटिलता और बहुलता का आईना हैं। इन नामों से अलग-अलग भाषायी प्रभावों (लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी), विभिन्न शासकों (आर्य, बौद्ध और मुस्लिम), और समुदायों (भारत समुदाय) के नाना प्रयासों और देश को पहचानने के अलग-अलग मानदंडों (यहां की आबोहवा, भौगोलिक सीमा) आदि का पता चलता है। बहरहाल, अब ये सारे नाम चलन में हों या न हों, मगर कुल मिलाकर यह सभी एक ही इकाई का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सात अंधे और एक हाथी

एक नगर में सात अंधे रहते थे। एक दिन एक हाथी उनके सामने आ गया। सातों व्यक्ति आंखों से कुछ नहीं देख सकते थे मगर छूकर बता सकते थे कि उनके सामने मौजूद चीज कैसी है। वे नहीं जानते थे कि हाथी क्या होता है इसलिए वे इस अजीबोगरीब चीज को जानने के लिए उत्सुक थे। पहले अंधे व्यक्ति ने हाथी का पैर छूकर कहा कि यह एक खंभा है। दूसरे अंधे ने हाथी की सूंड छूकर कहा कि यह सांप है। तीसरे अंधे ने हाथी के लंबे-लंबे दांत छूकर फैसला सुना दिया कि यह अजीब चीज और कुछ नहीं बल्कि एक भाला है। चौथे ने हाथी का सिर छूकर कहा कि यह बड़ी सी चट्टान है। पांचवें ने हाथी का कान छूकर कहा कि वह एक पंखा है। जब छठे व्यक्ति की बारी आई तो उसने हाथी की पूंछ छूकर ऐलान कर दिया कि यह तो सिर्फ एक रस्सी है। मगर सातवां आदमी सीमित अनुभव के आधार पर कोई फैसला सुनाने की जल्दी में नहीं था। उसने इस अजीबोगरीब चीज को ऊपर से नीचे तक छुआ, दाएं से बाएं तक और हर मुमकिन कोण से उसको महसूस किया। अंत में उसने निष्कर्ष दिया कि यह अजीबोगरीब नई चीज सचमुच एक खंभे जितनी मजबूत, सांप जैसी लचीली, चट्टान जैसी विराट, भाले जैसी तीखी, पंखे जैसी हवादार और रस्सी जैसी पतली है। मगर कुल मिलाकर यह चीज कोई खंभा, सांप, चट्टान, भाला, पंखा या रस्सी नहीं बल्कि ... एक हाथी था। बाकी सारे अंधे सातवें व्यक्ति की बात से सहमत हो गए। वह इस बात पर भी सहमत हो गए कि सीमित जांच के आधार पर आंशिक सत्य सबके सामने आ सकता है मगर वास्तविक ज्ञान पूरी चीज को देखने के बाद ही प्राप्त होता है।

हिन्दुस्तान की बहुरंगी विरासत

गुजरात जनसंहार न सिर्फ इसलिए भयावह था कि हज़ारों लोग मारे गए और बेघर हो गए थे बल्कि इसलिए भी कि इस जनसंहार के दौरान बड़े पैमाने पर संपत्ति और ढांचों को ध्वस्त किया गया। इस तबाही में कुल मिलाकर 198 मस्जिद, 26 मंदिर, 36 मदरसे ओर सबसे ज़्यादा परेशान करने वाली बात यह है कि 268 मज़ारें और तीर्थस्थल जिन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पूजते थे, गिरा दिये गये थे या तोड़ दिये गये थे। इस तरह की तोड़-फोड़, मंदिरों, मस्जिदों, मदरसों, मज़ारों और तीर्थस्थानों को नियोजित ढंग से गिराना अपने आप में एक सवाल उठाता हैः ये सब क्यों घटा? सांप्रदायिक भावनाओं के डूबे हुए माहौल में हिंदुस्तान की बहुरंगी विरासत के प्रतीकों को निशाना बनाया गया और उन्हें अपवित्र किया गया। क्या ये सिर्फ एक दुर्घटना थी, बिना सोचे समझे उन स्थानों पर हमला किया गया जो हिन्दुस्तान की बहुल परंपरा के प्रतीक हैं और दोनों हिंदुओं और मुसलमानों की साझा विरासत का हिस्सा हैं। इस साझा विरासत में हिंदुओं और मुसलमानों की भागीदारी हिंदू और मुसलमान पहचान के रूप में नहीं बल्कि विरासत के प्राकृतिक हिस्से के रूप में होती आई थी। तो क्या ये हमले और जनसंहार सुनियोजित षड्यंत्र का हिस्सा थे जिनका उद्देश्य बहुरंगी संस्कृति को समाप्त कर एकरंगी संस्कृति की स्थापना, एक ही धर्म का वर्चस्व और गैर बहुल समाज की संरचना करना था।

एक बात तो हमारी समझ में साफ आ जानी चाहिए कि ऐसी ताकतें जो हिंदुस्तानी समाज को एकल संस्कृति वाला समाज बनाने में जुटी है वे पिछले दो दशकों में नई ऊर्जा और शक्ति के साथ सक्रिय हो गईं हैं। राजनैतिक स्तर पर ये ताकतें बे-रोकटोक काम कर रही हैं क्योंकि इनका विरोध न तो किसी सोची समझी रणनीति के तहत हो रहा है और न ही विरोध में निरंतरता है। लेकिन इनको ये भी पता है कि हिंदुस्तान के बेजोड़ सामाजिक ढांचे और बहुरंगी विरासत परंपरा की वजह से इन्हें कोई खास कामयाबी (चुनावी नतीजों और जन-मानस में पैठ बनाने, दोनों ही संदर्भों में) में नहीं हासिल हो पायी है। ये जुड़वां हिंदुस्तानी परंपरा चट्टान की तरह अटल है और सांप्रदायिक हमले के खिलाफ एक ढाल का काम करते हैं साथ ही इनकी नाकामयाबी की वजह भी है। यही वजह है कि ये ताकतें इस बहुरंगी विरासत के सभी प्रतीकों को ढहाने और तबाह करने में लगे हुए हैं। अगर इन ताकतों को रोकना है तो इन प्रतीकों को हर हाल में बचाना होगा, महफूज रखना होगा, इनका पुनर्निर्माण करना होगा। क्योंकि सिर्फ यही प्रतीक राजनीति और आर्थिक नीति से कहीं ज्यादा, इन ताकतों को अपने उद्देश्य तक पहुंचने में रोक पाएंगे।

सामाजिक रंगारंगी के दो जुड़वां मूल तत्व-बहुरंगी परंपरा और बहुलता पर्यायवाची या विनिमेय शब्द नहीं हैं। यह पूरी तरह संभव है कि कुछ समाज बहुल न हो पर सिर्फ बहुरंगी हो या फिर बहुरंगी हो पर बहुल न हो। हिंदुस्तानी परंपरा की शक्ति इसी में है कि हिंदुस्तानी समाज का ढांचा बहुल होने के साथ-साथ बहुरंगी भी है। भारत में बहुलता का मतलब हैः भाषाओं और धर्मों के स्तर पर विविधता। ये विविधता और बहुलता इस मायने बहुरंगी है कि इन सब में मूल तत्व एक है, ये एक दूसरे में समान गोलाकारों की तरह व्याप्त हो जाते हैं, किनारों पर एक दूसरे में विलय हो जाते हैं इस सबके बावजूद भी ये अपनी भिन्नता को बनाए रखते हैं।

यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि यह जरूरी नहीं है कि ये बहुलता बहुरंगी हो। यही हिंदुस्तान की बेजोड़ और अतुलनीय विशेषता है। यही विशेषता पश्चिमी विद्वानों को पिछली सदी से विस्मय में डाले हुए हैं। उन्नीसवीं सदी के आखिर में और बीसवीं सदी के शुरू में ब्रिटिश एथनोग्राफरों ने सिर्फ हिंदुस्तान की बहुलता का ही विश्लेषण किया। इन परंपराओं के बीच के परस्पर रिश्ते पर ध्यान

ही नहीं दिया नतीजा उन्होंने हिंदुस्तानी समाज को खंडित समाज बताया। उन्होंने सामाजिक ढांचे को बहुत ही सतही ढंग से विश्लेषण किया जहां से वो समाज में बहुलता तो देख पाए पर परंपराओं के अंतर्संबंधों को नहीं देख पाए। पिछले दो-तीन दशकों में खासकर सोवियत संघ के विघटन के बाद पश्चिमी विद्वान हिंदुस्तान के टूटने की अपेक्षा कर रहे हैं साथ ही हिंदुस्तान के सामाजिक ढांचे के लचीलेपन पर चकित हैं। इस मायने में बिना किसी बाहरी मदद के इस ढांचे के विखंडनवादी शक्तियों को रोकने की क्षमता और सामर्थ्य पर तो बहुत ही ज्यादा चकित हैं। जाहिर है हिंदुस्तान का विघटन मुमकिन नहीं हुआ क्योंकि हिंदुस्तानी बहुलता पूरी तरह अंतर्संबंधित है। इस भारतीय विलक्षण बहुलता और बहुरंगी परंपरा के समुच्चेय को अब तक अपर्याप्त और असंतोषजनक तरीके से प्रभावित किया गया है। मिसाल के तौर पर विविधता में एकता। भारतीय बहुरंगी परंपरा को भारतीय एकता या एकीकरण समझना सरासर गलत होगा। बिना एक दूसरे में समाये या विलय हुए, बिना एक संयुक्त परंपरा को जन्म दिये विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराएं एक दूसरे से संवाद करती रही हैं। भारत की बहुलता और बहुरंगी परंपरा में कभी भी कोई टकराव नहीं रहा है और न ही कभी विलय का। दूसरे शब्दों में भारत में संपूर्ण विलय न होने के साथ-साथ मैत्रीपूर्ण संवाद बरकरार रहा है।

हम इस तरह यह भी नहीं कहना चाह रहे हैं कि भारतीय सामाजिक ढांचे के कुछ संस्थान बहुल हैं और कुछ केवल बहुरंगी विरासत से जुड़े हैं। सिर्फ दो मिसालें यह साबित कर देंगी कि भारतीय सामाजिक संस्थाओं में दोनों ही विशेषताएं पायी जातीं हैं। भारत में बहुत सारे धर्म हैं। यह एक जाना-पहचाना सच है। ब्राह्मणवाद, बौद्धमत और जैन मत की पुरातन परंपराएं जबकि बहुत पहले से मौजूद थीं और जारी रहीं, कई अन्य धर्म जैसे पारसी और ईसाई धर्म बाहर से आये। शायद आपको ये जानकर ताज्जुब होगा कि ईसाई धर्म भारत में पहले यूरोप में बाद में आया। इस्लाम और सिक्खमत मध्यकालीन युग में आये। सबसे अहम बात ये है कि (जैनिमत के अलावा शायद) सभी परंपराएं मौजूद रहीं हैं साथ ही इन सब धार्मिक परंपराओं में कुछ समानताएं भी आ गई हैं। पीपुल्स ऑफ इंडिया के एक सर्वे के मुताबिक सभी भारतीय धर्मों में जाति व्यवस्था मौजूद है। हिंदू धर्म में करीब 3 हजार जाति समूह हैं, इस्लाम में 5 सौ, सिक्ख मत में 150 और ईसाई धर्म में करीब इतनी ही यानी 150। इस नज़रिये से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि जाति सिर्फ एक हिंदू ही नहीं बल्कि एक भारतीय संस्था है। सिर्फ एक यही भिन्नता हालांकि भारतीय इस्लामी परंपरा को अरबी इस्लामी परंपरा से अलग करती है। पर फिर भी यह मुख्यतः इस्लामी परंपरा है।

भाषा एक दूसरी मिसाल है। इस क्षेत्र में भी दोनों बहुलता और बहुरंगी विरासत मौजूद हैं। मशहूर भाषाविद् गियर्सन द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के शुरू में किए गए लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया के मुताबिक भारतीय कुल मिलाकर कम से कम 179 भाषाएं बोलते हैं जिनमें 544 बोलियां भी शामिल हैं। इस तथ्य ने भारत को सच्चे मायनों में बहुभाषी समाज बनाया। कहा गया था कि सारी भाषाएं केवल चार भाषा परिवारों की सन्तति हैं (इंडो आर्यन, द्रविड़, आस्ट्रिक ओर सिनो-तिब्बती) यह भी याद रखना चाहिए कि भारत की प्रमुख भाषाएं एक ही भाषा परिवार से पैदा हुई हैं और उन सब में काफी समान विशेषताएं हैं। इसके बाद भी किसी तरह का भाषायी विलय नहीं हुआ। आज भी ये कहना सरासर बेवकूफी होगी कि भारत में सिर्फ एक ही भारतीय भाषा है।

पिछले दो दशकों से इसी परंपरा पर प्रायोजित हमले हो रहे हैं। ऐसे सभी संस्थानों को जो भारत की बहुरंगी परंपरा के प्रतीक हैं, बेमानी कर देना और अंततः इनको आमूल नष्ट कर देना इन हमलों का उद्देश्य है। इसीलिए गुजरात में 268 से भी ज्यादा सूफी समाधियों को अपवित्र किया गया। इस परंपरा को बचाने और इसका पोषण करने के लिए इसका सार समझना जरूरी है। ये भाषा और साहित्य, सूफी और भक्ति परंपरा, ललित कला और वास्तु कला, संगीत और चित्रकला और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के माध्यम से समझा जा सकता है।

भारतीय भाषाओं और साहित्य-विश्व भारत की बहुरंगी विरासत का जीता-जागता उदाहरण है। बारहवीं शताब्दी से

भारतीय साहित्य देश के ज्यादातर हिस्सों में लगातार फलता-फूलता रहा है। इस साहित्य की धर्म या राष्ट्रीयता के आधार पर पहचान कर पाना नामुमकिन था। सिर्फ एक तरह का भेद किया जा सकता था - संस्कृत और फारसी में लिखा प्राचीन साहित्य और दूसरा साहित्य। अमीर खुसरो (1254-1323) सबसे पहले हिन्दवी परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कवि फारसी और हिन्दवी दोनों भाषाओं में लिखते थे (हिन्दवी भाषा हिंदुस्तान के क्षेत्र में ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के दौरान बोली जाती थी।) साथ ही हिंदवी साहित्यिक रचनाओं पर गर्व भी करते थे। फारसी पाठकों को संबोधित अपनी एक फारसी कविता में उन्होंने लिखा है "चुम्मन टूटी-ई-हिंदम, अर रास्त पुरसी, जे भान हिंदवी पुर्स, ता नग्ज़ गोयम" (मैं एक भारतीय गुलाब की तूती हूं, अगर तुम मुझसे बात करना चाहते हो, मुझसे हिंदवी में बात करो जिससे मैं तुम्हें खूबसूरत चीजों के बारे में बता सकूं।) 12वीं-13वीं शताब्दी के संत बाबा गोरखनाथ ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग में कहाः "उत्पत्ति हिंदू जरना, जोगी, अक्ल पड़ी मुसलमानी" (मैं जन्म से हिंदू हूं, दिखने में जोगी और अक्ल से मुसलमान हूं।) बिलग्राम क्षेत्र के (आज के उत्तर प्रदेश में हरदोई के पास स्थित) बहुत सारे कवियों मसलन मीर जलाल, रसखान, अब्दुल लाहिद बिलग्रामी और मीर मीरान ने धर्म निरपेक्ष रचनाएं लिखीं। किसी भी तरह के धर्म की छाप अपनी रचनाओं पर नहीं पड़ने दी। इनमें से एक ने लिखा था : पेमी हिंदू तुर्क मैं, हार रंग रहयो समाप, देवल और मसित में, दीप एक ही भाए। ("मैं हिंदू और मुसलमान दोनों हूं और पूरी तरह से अपने ईश्वर में मस्त हूं, मंदिर और मस्जिद के लिए सिर्फ एक दीप ही काफी है।")

इस तरह की कई मिसालें दी जा सकती है। यह जानना और मानना जरूरी है कि साहित्य में सम्मिश्र परंपरा और कबीर पर्यायवाची हैं। कबीर वास्तव में इस परंपरा के शिखर भी थे और साथ ही परम अभिव्यक्ति भी। साहित्य की यह परंपरा 12वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक चली। इसी तरह भाषा के क्षेत्र में कई बोलियों या एक भाषा अपनी क्षेत्रीय सीमा के बाहर भी बोली जाती थी। (हिंदी, हिंदवी, देहलवी, ज़बान-ए-हिंदोस्तान, दकनी, मारवा, ज़बान-उर्दू-ए-मुअल्ला, ज़बान-ए-उर्दू और सिर्फ उर्दू। 18वीं सदी से पहले हिंदी या उर्दू का अपना-अपना अलग इतिहास ढूंढना बेमानी है। सिर्फ इसलिए कि उनका अलग-अलग इतिहास था ही नहीं। आज की हिंदी और उर्दू ने 18वीं और 19वीं सदी में ही अपना-अपना स्वरूप लिया और इस तरह इनका अलग-अलग होना एक निहायत ही बनावटी और अप्राकृतिक प्रक्रिया थी। (मिसाल के तौर पर अमीर खुसरो किस ज़बान में लिखते थे उर्दू या हिंदी में?) इसी तरह बहुरंगी परंपरा की समानताएं ललित कला, वास्तु कला, संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में पायी जा सकती हैं।

भारत की बहुरंगी विरासत और बहुलता को भारत की साम्राज्यवादी विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन से बहुत ताकत मिली। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने मोटे तौर पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ की लड़ाई का एक व्यापक रूप ले लिया। ऐसे वक्त में जब भारत की बहुलता पर आधुनिकरण के दौर में एकरूपता का हमला हुआ तब इसी राष्ट्रीय आंदोलन ने सामाजिक बहुरंगी परंपरा को ताकत दी और उसे बचाए रखा। इसी बहुरंगी परंपरा से धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इस तरह से भारत की बहुरंगी विरासत और बहुलता में निहित पारंपरिक मूल्य को धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता की खातिर कुर्बान करने की जरूरत नहीं पड़ी। इस तरह हम राजनीतिक आधुनिकरण और विदेशी राज पर हमले के मार्ग पर बिना अपने पारंपरिक मूल्यों को छोड़े चल सके। इस तरह हम अपने पारंपरिक मूल्यों के साथ आधुनिकरण के पहले चरण में दाखिल हुए। हमें अपने राष्ट्रीय आंदोलन का शुक्रगुज़ार होना चाहिए कि हम इसकी वजह से अपनी बहुरंगी विरासत और बहुलता को बचा पाये। यह याद रखना जरूरी है कि ये परंपराएं बनने में सदियां लग गयी हैं। इन्होंने ही भारतीय लोकतंत्र को प्रमुख मूलतत्व प्रदान किये हैं। साथ ही ये भी याद रखना चाहिए कि ये बहुरंगी विरासत और बहुलता सिर्फ लोकतंत्र में ही महफूज रह सकती हैं। इसीलिए जो ताकतें इन विरासतों और परंपराओं को धमकी दे रहीं रही हैं वो सीधे-सीधे लोकतंत्र को भी धमकी दे रही हैं और लोकतंत्र विरोधी हैं।

संत गुरु नानक

गुरु नानक अथवा गुरु ग्रंथ साहब पर कलम उठाने का अर्थ किसी धर्म या संप्रदाय या धार्मिक पुस्तक का प्रचार नहीं है। दरअसल हम अपनी साझी विरासत को खो देने के आदी बन चुके हैं। नानक हमारी साझी विरासत की बहुत बड़ी धरोहर हैं। सूफी संत परंपरा में कबीर, रैदास, बुलेशाह, दादू रामानंद जैसे अनेक नामों के साथ गुरु नानक भी एक ऐसा नाम है जिसने हमारी साझा संस्कृति को समृद्ध किया और जीवन भर इंसानी बराबरी और भाईचारे का संदेश दिया। गुरु ग्रंथ साहब अपने प्रकार का पहला ऐसा ग्रंथ है जिसमें दलित कवियों की आवाज़ सम्मानपूर्वक दर्ज होती है।

गुरु नानक का जन्म 15 अप्रैल 1469 को पश्चिमी पंजाब के तलवंडी गांव में हुआ। ये एक हिंदू परिवार था और उनके पिता मेहता कल्याण दास एक स्थानीय मुस्लिम अधिकारी के यहां बहीखाते का काम देखते थे। बचपन से ही गुरु नानक के मित्रों में हिंदू और मुस्लिम दोनों हुआ करते थे। पारंपरिक पढ़ाई के अलावा गुरु नानक ने अरबी और फारसी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। तेरह वर्ष का होने पर उनका जनेऊ धारण करने का समय आया। सारा माहौल एक समारोह जैसा था जिसमें सारे परिवारजन एकत्र थे। तमाम लोगों के बीच नानक ने हिंदू पुरोहित से जनेऊ पहनने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहाः-

"अगर दया सूत बने, संतोष धागा बने, संयम धागे की गांठ बने और सत्य उसमें लिपट जाये तो पुरोहित महाराज ऐसा जनेऊ मुझे दे दो। धन्य हैं वे लोग जो ऐसा जनेऊ पहनते हैं।"

नवयुवक नानक परिवार के पशु चराने का भी काम करते थे। इस दौरान गांव के आस-पास के जंगलों में घूमने वाले हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों के विद्वानों से उनकी गहरी चर्चा चलती थी। नानक इस दौरान ध्यान लगाने की प्रक्रिया भी शुरू कर चुके थे। नानक के माता-पिता को चिंता होने लगी। उन्हें ऐसा महसूस होने लगा था कि नानक सांसारिक गतिविधियों में अरुचि दिखा रहे हैं और उनका अधिकतर समय ध्यान-ज्ञान में ही लग रहा है। उन्होंने उचित समझा कि नानक की शादी कर दी जाय ताकि वे पारिवारिक व्यक्ति बन जायें। सोलह वर्ष की आयु में ही नानक की शादी कर दी गई। नानक ने इसका विरोध नहीं किया, उन्हें लगा कि शादी उनके आध्यात्मिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डालेगी। इस दौरान उन्होंने सुल्तानपुर के मुस्लिम गवर्नर दौलत खान लोदी के यहां नौकरी भी कर ली। नानक दिन में काम करते लेकिन प्रातःकाल और देर रात तक अपने प्रिय मुस्लिम मित्र मर्दाना के साथ ध्यान लगाते और भजन गाते। मर्दाना हर समय नानक का साथ देने के लिए अपना प्रिय वाद्य रबाब बजाते रहते। धीरे-धीरे काफ़ी सारे लोग इन दोनों के साथ जुड़ने लगे।

एक दिन प्रातःकाल नानक और मर्दाना बेन नदी में स्नान करने पहुंचे। गुरु नानक पानी में उतरने के बाद अचानक गायब हो गए। ऐसा माना गया कि नानक डूबकर मर गए। गांव वालों ने उन्हें पानी में हर तरफ तलाश किया लेकिन उसी पानी में नानक को ईश्वर का साथ मिल गया। नानक के शब्द थे "ईश्वर केवल एक है। सत्य उसका नाम है। वो निर्माता है। उसे किसी का भय नहीं है। उसमें किसी के लिए नफरत नहीं है। वो जन्म और मृत्यु के चक्र से परे है। वो एक प्रकाश है। उसे गुरु के द्वारा ही पाया जा सकता है। वो तब भी सत्य था जब संसार नहीं था और वो आज भी सत्य है। (जापजी) ये शब्द आज भी गुरु ग्रंथ साहब में मौजूद हैं।

तीन दिन बाद ठीक उसी जगह नज़र आए जहां से वे अदृश्य हो गए थे। वे अब एकदम बदले हुए व्यक्तित्व में नज़र आए। उनकी आंखों में चमक और चेहरे पर आभा थी। अब उन्होंने अपना सब कुछ गरीबों में बांट दिया और नौकरी छोड़ दी। लंबी छुट्टी के बाद उनके पहले शब्द थे,

"न कोई हिंदू है न कोई मुसलमान है।"

इस पर दौलत ख़ान ने कहा, हो सकता है हिंदू अब हिंदू न रहे हों लेकिन मुसलमान अपने धर्म में आस्था रखते हैं। इस पर गुरु नानक का जवाब था-

"मस्जिदों पर उसकी रहमत बरसे और जांनमाज आस्था का प्रतीक बन जाएं। कुरान अच्छा व्यवहार सिखाए और विनम्रता रोज़े का प्रतीक बन जाए। ऐसा हो जाए तो आप सच्चे मुसलमान हैं। अच्छे कर्म आप का काबा बने और सत्य आपका गुरु। आपका कलमा आपके व्यवहार में दिखे। तभी ईश्वर की नज़र में आप सम्मान के पात्र होंगे।"

1499 में गुरु नानक के जीवन का अगला चरण आरंभ होता है। अब समय आ गया था कि वे लंबी यात्राएं करके हर जगह ईश्वर का संदेश पहुंचाएं।

मर्दाना अपने रबाब के साथ गुरु नानक के साथ हो लिए। गुरु नानक ईश्वर का संदेश भजनों के रूप में गाते और मर्दाना रबाब बजाते। इन यात्राओं के दौरान की कई मान्यताएं जनमानस में मौजूद हैं। ऐसा माना जाता है कि अपनी यात्रा के दौरान एक बार गुरु नानक एक छोटे से कस्बे सैदपुर में रुके। नानक मर्दाना के साथ एक गरीब बढ़ई लालो के यहां रुके। उसी दौरान कस्बे का सरदार मलिक भांगो पूरे कस्बे को दावत दे रहा था। मलिक भांगो बहुत अमीर और अभिमानी व्यक्ति था। जब उसे मालूम हुआ कि नानक उसकी दावत में शामिल नहीं

हो रहे हैं तो उसने नानक को बुला भेजा और खाना खाने को कहा। नानक ने एक हाथ में मलिक भांगो का खाना लिया और दूसरे हाथ में लालो का परोसा हुआ सादा खाना। इसके बाद नानक ने दोनों खानों को निचोड़ दिया। लोगों ने देखा कि मलिक भांगो के खाने से खून की धार निकल पड़ी और लालो के खाने से दूध निकल आया। ये सब देखकर मलिक भांगो बहुत शर्मिंदा हुआ।

इसके बाद गुरु नानक कुरुक्षेत्र पहुंचे। उस समय कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण का मेला चल रहा था और लोग सूर्य की उपासना कर रहे थे। गुरु नानक ने अपने एक शिष्य द्वारा भेंट किये गये हिरन के मांस को पकाने का काम मर्दाना को सौंपा। ये देखकर कि हिरन का मांस उस पवित्र स्थल पर पकाया जा रहा है, वहां मौजूद भीड़ ने गुरु नानक पर हमले का प्रयास किया। इस पर गुरु नानक ने कहा, "वे मूर्ख हैं जो इस बात पर बहस करते हैं कि मांस खाना चाहिए या नहीं। वे न सत्य जानते हैं और न जानने का प्रयास करते हैं। यह कौन कह सकता है कि मांस क्या है और पौधा क्या है। किसे पता है कि पाप कहां छिपा है, शाकाहारी होने में या मांसाहारी होने में।"

अपनी यात्रा के दौरान गुरु नानक हरिद्वार में रुके। वहां उन्होंने देखा कि लोग पवित्र स्नान कर रहे हैं और सूर्य को जल चढ़ा रहे हैं। गुरु नानक ने पूछा कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। इस पर लोगों ने जवाब दिया कि वे अपने पुरखों को जल चढ़ा रहे हैं। गुरु नानक ने ठीक उल्टी दिशा में पानी फेंकना शुरू कर दिया। लोगों ने पूछा कि वे क्या कर रहे हैं। गुरु नानक ने कहा उनके खेत सूख गए हैं इसलिए वो खेतों को पानी दे रहे हैं। ये पूछे जाने पर कि खेत तो इतनी दूर हैं, उनका फेंका हुआ पानी वहां कैसे पहुंचेगा, नानक ने कहा कि जब तुम्हारा फेंका हुआ पानी सूर्य के पास से तुम्हारे पुरखों तक पहुंच जाएगा तो मेरा खेत तो फिर भी बहुत नज़दीक है।

उनके जीवन की चौथी सबसे बड़ी यात्रा थी एक दरवेश के रूप में मक्का, मदीना और बगदाद की यात्रा। मक्का में गुरु नानक को नींद आ गई। उस समय उनका पैर काबा की ओर था। ये देखकर किसी ने गुरु नानक को लात मारी और कहा कि काबा की ओर पैर करके सोने की तेरी हिम्मत कैसे हुई? इस पर गुरु नानक ने कहा कि मैं बहुत थक गया हूं। मेहरबानी करके मेरा पैर उस दिशा में कर दीजिए जिस दिशा में ईश्वर न हों। मक्का में उन्होंने अरबी और फारसी में ईश्वर की आराधना की।

जीवन भर ईश्वर का संदेश हर तरफ पहुंचाने के बाद वे पंजाब लौट आए। यहां आकर उन्होंने लहना नामक एक व्यक्ति को दीक्षा दी और उसे अंगद का नाम देकर अपना जांनशीन बनाया। ये समझते हुए कि नानक का अब अंत समय आ रहा है, हिंदू और मुसलमान इस बात पर झगड़ने लगे कि उन्हें जलाया जाए या दफनाया जाए। इस पर नानक ने कहा कि मेरे शरीर के दायीं ओर हिंदू फूल रख दें और बांयी ओर मुस्लिम फूल रखें। कल सुबह जिसके फूल ताजा पाए जाएं वहीं मेरा अंतिम संस्कार करे। इसके बाद उन्होंने खुद को चादर से ढक लिया। 22 सितंबर 1539 की सुबह गुरु नानक का ईश्वर में विलय हो गया। सुबह जब चादर हटाई गई तो वहां गुरु नानक तो नहीं थे लेकिन दोनों ओर रखे गए फूल बिल्कुल ताजा थे। दोनों समुदायों ने अपने-अपने तरीके से उन फूलों का अंतिम संस्कार किया।

धार्मिक आस्थाओं से परे गुरु नानक की वाणी एक सच्चे सूफी संत की वाणी है जिसमें धार्मिक और जातिगत भेदभाव के लिए कोई जगह नहीं है। अन्य सभी सूफी संतों की तरह नानक की भी एक ही वाणी है और वह है प्रेम की वाणी।

वे सूफी संत जिनकी वाणी गुरु ग्रंथ साहब में शामिल हैं।

1. *जयदेव–गीत गोविंद के लिए मशहूर संत कवि जयदेव के दो भजन गुरु ग्रंथ साहब में शामिल हैं।*
2. *नामदेव–नामदेव सन् 1100 से लेकर 1600 तक चलने वाले भक्ति आंदोलन का एक अभिन्न हिस्सा हैं। उत्तर भारत में नामदेव को लगभग वही दर्जा हासिल है जो कबीर को है।*
3. *त्रिलोचन–कुछ इतिहासकार मानते हैं कि त्रिलोचन महाराष्ट्र के शोलापुर जिले में पैदा हुए थे। लेकिन उनका सारा जीवन उत्तर प्रदेश में बीता और वे कबीर के समकालीन थे।*
4. *परमानन्द–परमानन्द ब्रज भाषा के महान कवि थे। उनके शब्द सारंग राग के तहत गुरु ग्रंथ साहब में शामिल हैं।*
5. *सदना–पेशे से कसाई सदना बहुत नामी सूफी थे जो सिंध से चलकर पंजाब पहुंचे और वहीं प्रेम का संदेश देते रहे।*
6. *रामानंद–भक्ति परंपरा में रामानन्द पहला ऐसा नाम है जिसने गुरु वर्ण आश्रम व्यवस्था तोड़ते हुए भक्ति का मार्ग अपनाया।*
7. *बेनी–"तन चंदन मस्तक पट्टी" का उपहास करने वाले बेनी के व्यक्तिगत जीवन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है लेकिन गुरु ग्रंथ साहब में इनकी वाणी मौजूद है।*
8. *धन्ना–भगत धन्ना संत कवि थे और श्रम को ही सबसे बड़ी उपासना समझते थे।*
9. *पीपा–पीपा राजस्थान के एक राजघराने के युवराज थे। वे भवानी के भक्त थे। भक्ति में डूबकर इन्होंने राजपाट छोड़ दिया और आध्यात्मिक जीवन बिताने लगे।*
10. *भगत सैन–भगत सैन एक नाई थे जिन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया और गुरु ग्रंथ साहब में जगह पाई।*
11. *कबीर–निर्गुण भक्ति के प्रेरणा स्रोत जिनका जन्म नानक से लगभग 70 साल पूर्व हुआ। उल्लेखनीय है कि नानक ने 70 साल का जीवन पाया।*
12. *रैदास–चर्मकार परिवार में जन्मे रैदास ने संत का मुकाम हासिल किया। इनकी वाणी आज तक लोकवाणी बनी हुई है।*
13. *बाबा फरीद–पंजाब के संभवतः महानतम सूफी।*
14. *सूरदास–ब्रज भाषा के महानतम कवि और संत।*
15. *भक्त भीखन–भीखन संत रैदास और संत धन्ना की परंपरा के भक्त थे जो हरि नाम को तमाम कष्टों से छुटकारा का मार्ग मानते थे।*

उस्ताद बिस्मिला खाँ–भारत की साझी विरासत

■ पार्थ चटर्जी

शहनाई के इतने खूबसूरत इस्तेमाल और उसमें इतनी बारीकी पैदा कर पाना खाँ साहब के ही वश की बात हो सकती थी। उनके होंठों से छूकर शहनाई ''बोलने'' लगती थी और संगीत में एक दिली बातचीत का सा भाव मालूम पड़ता था।

सत्तर साल पहले शहनाई को संगीत कार्यक्रमों में वाजिब जगह दिलवाने वाले उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ (1916-2006) ने पिछले दिनों 21 अगस्त को बनारस में आखिरी सांस ली। खाँ साहब थके और बूढ़े तो थे लेकिन अभी सोने की तैयारी में नहीं थे। कला और सौन्दर्य की दुनिया में नए प्रतिमान गढ़ने वाले बिस्मिल्ला खाँ काफी अकेले हो चुके थे और भौतिक दुनिया से अरसा पहले मुक्त हो चुके थे लेकिन इस दौरान उन्होंने अपने तकरीबन 70 आश्रित परिजनों की जरूरतों को पूरा करने में कभी कोई कसर नहीं उठा रखी।

खाँ साहब की ज़िंदगी और कला के बीच कोई फासला नहीं था। दोनों चीजें एक दूसरे में मानो विलीन हो चुकी थीं। 1937 में कलकत्ता में हुए अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में उन्होंने शहनाई की स्वर-लहरियों का ऐसा जादू बिखेरा था कि गुनी सुनने वाले भी दंग रह गए थे। उस वक्त उनकी उम्र महज़ 21 बरस थी। इसके बाद वे तकरीबन 50 साल तक शहनाई की दुनिया के सबसे करिश्माई फनकार बने रहे। कलकत्ते के अली हुसैन, वाराणसी के अनन्त लाल और पुरानी दिल्ली के जगदीश प्रसाद क़मर, इन सबने शहनाई बजाई और सारे ही इस फन के माहिर उस्ताद भी थे पर किसी के पास भी लय-ताल की वो तुर्शी और बारीकी ना थी।

जब बिस्मिल्ला खाँ बजाते थे तो चाहे यमन जैसे बुलन्द राग में कई परतों की बंदिश हो या कोई साधारण सी लोकधुन हो, उनकी शहनाई सुनकर आम सुनने वालों की तो बात ही क्या, शौकीनों और तजुर्बेकारों का भी गला रुंध जाता था। उन्हें संगीत की ये बेमिसाल प्रतिभा व हुनर कहां से मिला, इस बारे में जानकार चाहे जो कहें पर खुद खाँ साहब अपनी इस कामयाबी और महारत के लिए अल्लाह और सरस्वती, दोनों को ही सीस नवाते थे।

एक नज़र से देखें तो संगीत उनके खून में था। शायद इसीलिए एक हद तक उनके लिए ये सबकुछ आसान भी था। उनके पुरखे संयुक्त प्रांत की एक भूतपूर्व रियासत के दरबारी संगीतकार थे। यह छोटी सी रियासत अब बिहार में पड़ती है। उनके चाचा अली बख़्श, जिन्हें लोग विलायतू कहा करते थे, वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर से जुड़े थे और उन्होंने ही बिस्मिल्ला खाँ को मंदिर के गर्भगृह के भीतर शिव की मूर्ति के सामने और बाहर जनता के सामने शहनाई बजाने का हुनर सिखाया था। ये दोनों शख़्स साजिंदों के साथ मंदिर के मुहाने से सटे चबूतरे पर बैठे शहनाई बजाया करते थे - इस बात से अनजान कि वे ऐसे समाज में एक नई रीत गढ़ने की कोशिश कर रहे हैं जो अभी भी वर्ग, जाति और मजहब की लकीरों से बंटा हुआ है।

सांस पर उनका नियंत्रण गजब का था। ये बात इसलिए और भी हैरतंगेज दिखाई देने लगती है कि खाँ साहब धूम्रपान के भारी शौकीन थे। तकरीबन सारी उम्र उन्होंने जमकर बीड़ियां फूंकी थीं। 73 साल की उम्र तक भी उनकी आवाज में वही जुम्बिश और समृद्धि बनी हुई थी और शायद ही कभी कोई तान जगह से इधर-उधर पड़ती होगी।

चंद नपे-तुले सुरों के ज़रिये पहले वो किसी राग के कोने-अंतरे और सिरों को उघाड़ते थे और फिर उसका मिजाज़ व आत्मा उभरती थी। खाँ साहब किसी खास राग में नई बंदिशें बनाने और उनको तराशने की सदियों से चली आ रही परंपरा के वारिस थे।

खाँ साहब गाने के भी बहुत शौकीन थे और उम्र की आठवीं दहाई के आखिरी सालों में भी बखूबी गा लेते थे। उन्हें ठुमरी, दादरा, चैती, बारामासा और खयाल की सैंकड़ो बंदिशें ज़बानी याद थीं।

खाँ साहब गहरे तौर पर धार्मिक और इंसानियत-परस्त

व्यक्ति थे। उनके प्यार की कोई सीमा नहीं थी। उन्हें तो पूरी मानवता से लगाव था। ये उनकी इंसानियत और सहनशीलता का ही नतीजा था कि 40 साल पहले वे बनारस में हुए सांप्रदायिक दंगों के दौरान अविचलित खड़े रहे। उनका मानना था कि जो गलत है वो भी अपने आप सही रास्ते पर आ जाएगा और ज़िंदगी में अर्थ भरने के लिए सुरों की श्रेष्ठता कायम होकर रहेगी।

भारत रत्न सहित तमाम ईनाम-सम्मान उन्हें मिले। कलाकारों में एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी और पंडित रविशंकर के अलावा सिर्फ खाँ साहब ही थे जिन्हें भारत रत्न मिला था।

मेरे ज़ेहन में बिस्मिल्ला खाँ के संगीत की सबसे पुरानी और अविस्मरणीय स्मृति साठ के दशक से जुड़ी हुई है। दशक के आखिरी सालों में मैंने उनकी बजायी बागेश्वरी रात्रि राग की एलपी (लाँग प्लेईंग) रिकॉर्डिंग सुनी थी। उस प्रस्तुति में उन्होंने बिछुड़ गए प्यार की बार-बार पीछा करने वाली स्मृति को निरर्थक अफसोस के भाव में नहीं बल्कि गहरे विवेक के स्तर पर साकार किया था। उस डिस्क को मैंने 35 साल पहले अपने दोस्त के घर पर सुना था, लेकिन उस अमर संगीत का असर व याद आज भी मेरे पास है। इसके अलावा तिलक कामोद, केदार, जैजेवंती, श्याम कल्याण, विहाग, रागेश्वरी और मलकान जैसे रागों की रिकॉर्डिंग्स अब तक मेरी यादों में बसी हैं। अहीर भैरव, तोड़ी, ललित, बृंदावनी सारंग, जौनपुरी, भीमपलासी जैसे सुबह-दोपहर वाले राग और बहार-मल्हार जैसे मौसमी राग... फेहरिस्त लंबी है।

बताते हैं कि बिस्मिल्ला खाँ ने तंत्रकारों की *बाज* की भी तालीम ली थी। तंत्रकार एक जटिल समय चक्र के आधार पर राग की संरचना में सघन संशोधन पर आश्रित रहते थे जिसमें केंद्रीय सुर बीच-बीच में उभरता था। खाँ साहब की शैली भी उनके अपने परिवेश में गायकों से काफी प्रभावित थी और विद्याधरी बाई, रसूलन बाई और उनकी बहन बतूलन बाई, जिन्हें लोग भुला चुके हैं, बड़ी मोटी बाई और सिद्धेश्वरी बाई जैसे अपने जमाने के महान ठुमरी गायकों की समृद्ध शैली को उन्होंने खूब अपनाया था।

ठुमरी के साथ सहज रिश्ता

बिस्मिल्ला खाँ मूलतः स्त्री-सुलभ ठुमरी के आंतरिक क्रियाविधान को समझ चुके थे और उसके सबसे चित्ताकर्षक व कठिन पहलुओं को उन्होंने अपने शहनाई वादन में समो लिया था। जब वे किसी राग की चढ़ती-गिरती तानों को संजोते थे तो सिर्फ कर्णप्रिय आवाजें नहीं पैदा कर रहे होते थे। यह सजावट से कहीं ज्यादा बात होती थी। इस क्रिया में वे विचार और एहसास के अनुभव की सीमाओं को नया विस्तार देते थे।

उन्होंने विजय भट्ट की सफल हिन्दी फिल्म *गूंज उठी शहनाई* में भी शहनाई बजाई थी। इस फिल्म के शीर्षक गीत "मेरे सुर और तेरे गीत" में लता मंगेशकर के साथ उनकी प्रस्तुति को आवाज़ और बाजे का आदर्श मिलन माना जाता है। इसी तरह का परिपक्व संगम लैस्टर यंग के सैक्सोफोन और बिली हैलीडे के जैज़ गायन की रिकॉर्डिंग्स में दिखाई देता है। अमेरिका में 1930 और 40 के दशकों में इस श्रृंखला की बहुत सारी रिकॉर्डिंग्स तैयार की गई थीं। बिस्मिल्ला खाँ ने कुछ और फिल्मों के लिए भी शहनाई बजाई थी जिनमें सत्यजीत रे की *जलसागर* (1958) भी शामिल है। इस फिल्म का संगीत उस्ताद विलायत खाँ ने दिया था। हाल ही में उन्होंने आशुतोष गोवारीकर की फिल्म *स्वदेश* में भी अपनी शहनाई का जादू बिखेरा था।

उन्होंने विलायत खाँ के साथ सितार पर और प्रो. वी. जी. जोग के साथ वायलन पर युगल प्रस्तुतियां दी थीं। इनके अलावा ओमकारनाथ ठाकुर से हिंदुस्तानी संगीत में वायलिन वादन का गहन प्रशिक्षण लेने वाले एन. राजम के साथ भी उनकी जुगलबंदी के रिकॉर्ड मौजूद हैं। सितार वादक शाहिद परवेज़ के साथ भी उन्होंने कई बार बजाया। ईएमआई इंडिया ने उनकी गायी हुई ठुमरियों की एक एलबम भी रिलीज़ की थी।

उनकी बेहतरीन रचनाओं के लिए उन्हें हमेशा याद रखा जाएगा। बिस्मिल्ला खाँ इतने लम्बे समय तक टिके रहे इसकी मुख्य वजह ये थी कि माइक्रोफोन का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर होने लगा था लेकिन उनके संगीत की आभा उनकी अपनी उपलब्धि थी जो अंत तक उनके साथ रही। अब जबकि हिंदुस्तानी मरगिया संगीत एक नाजुक मोड़ पर पहुंच गया है और जबकि खरीद-फरोख्त व रिकॉर्डिंग की दुनिया के लोग और सुनने वाले होश खो देने वाले संगीत से बेपरवाह होते जा रहे हैं, हमें इस बात के लिए आभारी होना चाहिए कि हमारे पास उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ के उस अलौकिक संगीत का इतना बड़ा खज़ाना मौजूद है। उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ भारतीय संगीत में साझी विरासत के आदर्श प्रतिमान के रूप में याद किये जायेंगे।

संपादित, फ्रंटलाइन से साभार

अनुवाद : योगेन्द्र दत्त

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए